स्वाध्यायमञ्जरी का सातवां पुष्प

धर्मोपदेश

(द्वितीय भाग)

संग्रहीता
स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के अनन्य भक्त
लाला लब्भूराम नय्यड़
लुधियाना

श्रद्धानन्द-स्मारक-निधि के सभासदों की सेवा में
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की ओर से
संवत १९९३ के लिए सप्रेम भेंट

खरीदने वाले सज्जनों के लिए
मूल्य १.२५

प्रकाशक :
धर्मपाल विद्यालंकार,
सहायक मुख्याधिष्ठाता,
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार ।

प्रथम मुद्रण १००० प्रतियां, संवत् १९९२ ।
द्वितीय मुद्रण १००० प्रतियां, संवत् २०१६ ।

मुद्रक :
रामेश बेदी,
गुरुकुल मुद्रणालय,
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार ।

भेंट

श्रद्धानन्द-स्मारक-निधि के सदस्यों की सेवा में

दिवगत श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा संस्थापित गुरुकुल के आप सहायक हैं। इस नाते हम और आप एक परिवार के सदस्य हैं। छः वर्षो से इस परिवार ने 'स्वाध्याय-मजरी' द्वारा एक पारिवारिक सत्संग की स्थापना कर रखी है। गत छः वर्षो मे इस मंजरी के छः पुष्प विकसित होकर स्वाध्याय-शीलों के हृदय-मन्दिरों को सुगन्धित तथा सुशोभित कर चुके हैं। इस वर्ष इस मंजरी मे एक सातवां फूल खिला है, जो आप के कर-कमलों में समर्पित है। यह फूल अपने आप में मनोहर हो या न हो, इस की शोभा को आप उस प्रेम से आंकिये, जिस से यह आप की सेवा मे प्रस्तुत किया जा रहा है। इस वर्ष के सत्सगों को इस फूल की सुगन्धि से महकाइये। श्रद्धानन्द के परिवार की शोभा वेद के स्वाध्याय के सिवाय और किस आभूषण से हो सकती है ?

आपका परिवार-बन्धु

मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल।

आवश्यक निवेदन

सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये

संसार का भला करने वाले वे मनुष्य नहीं हैं जो केवल विद्वान् हैं और न वे मनुष्य हैं जो बड़े-बड़े शब्द रटकर लम्बे-लम्बे व्याख्यान दे सकते हैं क्योंकि वे मनुष्य जो कुछ कहते हैं, उस को मन से अनुभव नहीं करते।

उन ही मनुष्यों के जीवन से जगत् का कल्याण हुआ और हो सकता है जो सदाचारी हैं, नेक है और जिनका मन पवित्र है। श्री पूज्यपाद महात्मा मुशीराम जी जिज्ञासु (अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज) ने जो अपने हर एक काम मे सफलता प्राप्त की उस का कारण उन की विद्या न थी, उन का वकील होना न था और न ही उन की मीठी वाणी थी, बल्कि विशेष कारण उन का आचारवान् होना था। वे जो कुछ कहते थे उस पर आचरण भी करते थे। उन की आत्मा शुद्ध थी इसलिये उन के कथन का प्रभाव पड़ता था। जो कोई भी मनुष्य उन का सत्सग करते, वे अत्यन्त प्रभावित होते थे। महात्मा जी अपने कर्तव्य को अनुभव करते हुए ईश्वरीय नियमों और सचाई का निडरता से प्रचार करते थे। वह अपने असल असूल से कभी नहीं डगमगाये। उन का वैदिक धर्म-प्रचार इस कारण सर्व साधारण को प्रभावित करता था कि वे स्वयं दृढ़ता से अपने जीवन में उस का पालन करते थे। उन

का ईश्वर के प्रति विश्वास दृढ़ था। घोर निराशा में भी उन्होंने बलवती आशा का सचार किया था और कितने ही भटकते हुओं को सन्मार्ग पर लगाया था। गहन ग्रन्थों की पिटारियों में बन्द, सिद्धान्तों के सुनहरे आभूषणों से समाज के शरीर को अलकृत करने की चेष्टा में वह निरन्तर रत रहे।

श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी के वेद, गीता, मनुस्मृति के व्याख्यान तो 'आप बीती, जगबीती' के अनुभवों के कारण हमारे हृदय में घर सा कर लेते है। इन प्रवचनों ने मुन्शोराम का जीवन पलट कर उन्हें श्रद्धानन्द बना दिया। जालन्धर के रईस को ऋषि दयानन्द की दीक्षा ने कमण्डल धारण करा यतिवर बना दिया और अन्त में प्रभु के धाम—अमर लोक को पहुंचा दिया। उन के उपदेश पढ़ने से जीवनों में पलटा आ सकता है। वीर कर्मयोगी के इस सिहनाद से आलसी पुरुषों की तन्द्रा टूट सकेगी और आज तो अशान्त जनता के लिये यह उपदेश पीयूषवर्षी मेघ का काम देंगे।

मैंने पूज्य महात्मा जी के आदेश से प्रेरित होकर जो कुछ सेवा, गुरुकुल कांगड़ी को बन आई, की। मुझे अधिकतर इस सेवा के योग्य बनाने में उन का ही हाथ था। मेरी हर समय यही इच्छा रहती थी कि उन के चरणों में रहूं। उन के स्वर्गवास होने के उपरान्त जब भी उन की स्मृति से मैं उदास होता तो 'सद्धर्म-प्रचारक' 'श्रद्धा' और उन की धार्मिक पुस्तकों

के स्वाध्याय से चित्त शान्त करता।

देर से मन में यह् संकल्प था कि उन के धर्मोपदेशों को श्रद्धा पत्रिका से संग्रह् कर के जनता के समक्ष रक्खूं। ईश्वर की कृपा से अब कुछ समय मिला तो स्वर्गीय अमर शहीद के कुछ उपदेश श्रद्धा की फाइलों से सग्रह् कर के अपने कर्तव्य का पालन करता हू। यदि इन उपदेशों से किसी भाई को लाभ पहुचे तो मै अपने परिश्रम को धन्य समझूंगा।

लब्भूराम नय्यड़
आनन्दाश्रम
लुधियाना, (पंजाब)।

—

ओ३म्

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे,
तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति।
स दाधार पृथिवीं दिवं च,
स आचार्यं तपसा पिपर्ति ॥१॥
अथर्व०, काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५, १।

मन्त्र सार

ब्रह्म परमेश्वर को कहते हैं। उस अनाद्यनन्त की आदि विद्या 'वेद' भी ब्रह्म ही है क्योंकि दोनों ही सर्वोपरि, बड़े हैं। 'चर' धातु 'गति' और 'भक्षण' दो अर्थों में प्रयुक्त होती है। पहले 'गति' अर्थ में चर को लेंगे। वह 'गति' शब्द भी तीन अर्थों में लगता है—अर्थात् ज्ञान, गमन और प्राप्ति। तब ब्रह्मचारी वह है जो परमेश्वर और उस की पतित पावनी विद्या का पहले ज्ञान प्राप्त करे। वह निश्चयात्मक ज्ञान किस मुख्य साधन से प्राप्त होता है? जिस अनिर्वचनीय को आंख देख नहीं सकती, कान सुन नहीं सकते और अन्य इन्द्रियां भी जिस का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं दे सकतीं, उस व्यापक पुरुष को कहां देखें? निस्सन्देह उस का ज्ञान वहां ही प्राप्त हो सकता

है जहां वह विद्यमान है। ब्रह्माण्ड के प्रकाशमान् और अप्रकाश्य, प्राण और रवि, द्यौ और पृथिवी किस लोक में वह मौजूद नहीं है। 'हर जगह मौजूद है पर वह नज़र आता नहीं' तब उस का ज्ञान द्यौः और पृथिवी इत्यादि द्वन्द्वों में तत्व की दृष्टि डालने से ही मिलेगा; और इस दृष्टि के लिए आवश्यक है कि द्रष्टा में बल हो। ज़मीन और आसमान के अन्दर जो छिपा हुआ राज़ (रहस्य) है उस को खोलना ब्रह्मचारी का उद्देश्य है, इसलिए वह ज़मीन और आस्मान को हिलाता हुआ विचरता है। वह प्रकृति को मजबूर करता है कि अपने अन्दर के रहस्यों को उस (ब्रह्मचारी) के लिए खोल कर रख दे।

जब ब्रह्मचारी को ब्रह्म का ज्ञान हुआ तो वह उस में गमन करना आरम्भ करता है। संसार के सब प्रकाशमान् पदार्थ (जो उस प्रकाश्य स्वरूप की ज्योति के द्योतक होने से देव हैं) तम में उस ब्रह्मचारी के सहायक होते हैं। जहां पहले भिन्नता दिखाई देती थी वहां समानता दिखाई देती है। सब में वह उसी प्रकाशस्वरूप की ज्योति को देखता है और अन्ततः वह उसी में स्थिरता को प्राप्त होता है। दर्शन तो, किसी न किसी समय, प्रत्येक व्यक्ति को होते हैं परन्तु ब्रह्मचारी को यह बल प्राप्त होता है कि जब एक बार उस परम ज्योतिः के दर्शन हो जायें तो वह उस से अलग नहीं होता। तभी तो वेद भगवान् ने कहा है कि ब्रह्मचारी द्यौ

और पृथिवी को दृढ़ता से धारण कर लेता है अर्थात्, उन के तत्व को समझ कर फिर उस का हृदय डांवाडोल नहीं होता।

बड़े का ज्ञान करने, उस में गमन करने और फिर उस की प्राप्ति से स्थिर होकर दृढ़व्रती होने का साधन क्या है? वही साधन ब्रह्मचारी को आचार्य बतलाता है। बड़े की प्राप्ति के लिये साधन भी बड़ा ही होना चाहिए। हाथीनशीनों से दोस्ती गांठने वालों को ऊंचे दर्वाजे रखने पड़ते हैं। सर्वोपरि परमात्मा और उस के वेद की प्राप्ति के लिए साधन भी ऊंचा चाहिए। वह बड़ा क्या है जिस के साधने से सब से बड़े ब्रह्म का योग सध जाय? तैत्तिरीयोपनिषत् की भृगुवल्ली में भृगु ने गुरु वरुण से ब्रह्म का पता पूछा है। वरुण ने उत्तर में कहा 'अन्नं, प्राणं, चक्षुः, श्रोत्रं, मनो वाचमिति,' 'अन्न' ब्रह्म है। तब ब्रह्मचारी कौन है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए 'चर' धातु के दूसरे अर्थ पर विचार करना चाहिये। 'चर' भक्षण अर्थ में भी आता है। जो अन्न को भक्षण करने की शक्ति रखता है वह ब्रह्मचारी है। भक्षण किसे कहते हैं? क्या खाद्य पदार्थ को पेट में रख लेना ही भक्षण है? वाचस्पत्य शब्दकोष के पृ० ४६२० पर लिखा है—'भक्ष-भावे ल्युट्। कठिन द्रव्यस्य गलाधःकरणव्यापारे। भक्षणप्रकारः सुश्रुतोक्तः। मनुष्य योनि में यह मानवी शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मायुक्त बनावट ही ब्रह्मप्राप्ति का साधन है। उन में से शरीर में रह

कर ही इन्द्रिय मन और आत्मा का व्यापार चल रहा है; इस लिए शरीर के स्वास्थ्य पर ही अन्य सब का स्वास्थ्य निर्भर है परन्तु शरीर के परमाणु क्षण भर में क्षीण होते रहते हैं। उन की स्थानपूर्ति के लिए केवल खाने-पीने की ही आवश्यकता नहीं अपितु उस खाए को पचाने की भी आवश्यकता है। स्वादिष्ट और चटपटे भोजन के प्रलोभन में न फंसना और चबाते हुए उसे पीस डालकर अन्दर ले जाना यह तपस्वी का हो काम है। इसी तप की शिक्षा आचार्य ब्रह्मचारी को देता है और जब शिष्य आचार्य की शिक्षा के अनुकूल आचरण करता हुआ तपस्वी बनता है तभी आचार्य की आत्मा सन्तुष्ट होती है। इसी को लक्ष्य में रख कर उपनिषद् में अन्तेवासी के लिए उपदेश है कि आचार्य के प्रिय धन की भेंट उस के आगे रक्खे। धन्य हैं वे शिष्य वर्ग जो आचार्य की शिक्षा को शिरोधार्य समझ कर तप का जीवन व्यतीत करते हैं, क्योंकि उस अवस्था को प्राप्ति का, जिस में आनन्द का ही राज्य है—वही एक साधन है।

शब्दार्थ

(ब्रह्मचारी) परमेश्वर और उस की बड़ी विद्या वेद को प्राप्त करने में शील जिस का, वह ब्रह्मचारी (रोदसी उभे) द्यावा पृथिवी रूपी दोनों लोकों को (इष्णन् चरति) हिलाता हुआ चलता है, (तस्मिन् देवाः सम्मनसः भवन्ति)

उस में ही सब देव समान मन वाले होते हैं। (सः दाधार पृथिवीम् दिवम् च) वह पृथिवी और द्यौ (जमीन और आसमान) को दृढ़ता से धारण करता है—(सः आचार्यम् तपसा पिपर्ति) वह आचार्य को तप से पालता अर्थात् सन्तुष्ट करता है।

—

२

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः,
पृथग् देवाः अनुसंयन्ति सर्वे।
गंधर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः,
षट्सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति ॥२॥

अथर्व० काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५, २।

मन्त्र सार

देव कौन हैं ! "देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा" दान देने से, प्रकाश करने से, उपदेश देने से (दूसरे के अन्दर चांदना करने से) और सब प्रकाशों की स्थिति का स्थान होने से देव कहाता है। पहले दान देने वाले देव, दूसरे प्रकाश करने वाले सूर्यादि देव, तीसरे उपदेश से अन्दर चांदना देने वाले माता-पिता और आचार्य देव और

चौथे प्रकाशकों की भी स्थिति का स्थान परमात्मा परमदेव है। देव समूह में अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चन्द्रमा और नक्षत्र, आठ वसु कहलाते हैं क्योंकि सब पदार्थ इन्हीं में निवास करते हैं। दस प्राण और ११वां जीवात्मा इस लिए रुद्र कहलाते हैं क्योंकि जब ये शरीर से निकलते हैं तो मृत के सम्बन्धियों को रुलाते हैं। संवत्सर के बारह महीने आदित्य कहलाते हैं क्योंकि ये आयु को क्षीण करते चले जाते हैं। ३१ ये और व्यापक विद्युत् तथा यज्ञ सब मिला कर तेंतीस देव समूह हैं। इन्ही का विस्तार ३३३ और ६३३३ तक पहुंचता है। ये सब देव समूह और जुदे-जुदे देव, सब ब्रह्मचारी के पीछे चलते हैं—अर्थात् ब्रह्मचारी के स्वभावतः अनुकूल ये शक्तियां हो जाती हैं। उस के मार्ग में ये शक्तियां बाधक नहीं होतीं। और गन्धर्व भी उस के साथ चलते हे, उस का रास्ता साफ़ करते हैं। ये गन्धर्व कौन हे ? "गाम् धारन्तीति ये ते गन्धर्वाः" इन अर्थों में जो अनगिनत सूर्य लोक ब्रह्माण्ड को प्रकाशित कर रहे हैं, वे गन्धर्व है। फिर शतपथ में लिखा है—"अहोरात्राणि वै गन्धर्वाः" दिन रात भी गन्धर्व है। यह दिन रात का चक्र सब को घुमाता है और बुद्धि को डांवाडोल कर देता है। परन्तु ब्रह्मचारी को वह भी हिला नहीं सकता।

क्यों सब देव ब्रह्मचारी के पीछे-पीछे चलते हैं ? इस का उत्तर साधारण व्यक्तियों के जीवन में ढूंढिये। जिस का वीर्य

सुरक्षित नहीं वह माथे की तेजमय अग्नि को मन्द कर देता है। जिस का शरीर तप से शुद्ध नहीं वह मल-मूत्र के अनुचित त्याग से पृथिवी को गन्दा कर देता है। जिस का मन वश में नहीं वह वायु और अन्तरिक्ष को निर्बल करने की चेष्टा करता है और जो अविद्या का दास है उस से उठे हुए बादल सब प्रकाशमान पदार्थों को मन्द कर देते हैं

अब्रह्मचारी से रुद्र पीड़ित और आदित्य दुःखी रहते हैं। विद्युत् और यज्ञ उस की जान को रोते हैं। परन्तु ब्रह्मचारी अपने तप से इन सब को उत्तेजित करता है। ब्रह्मचारी का क्रियात्मक उपदेश इन सब देवों को शान्त कर के भरपूर कर देता है। दिन रात, उलटे चलने के स्थान में सीधे चलने लगते हैं। ब्रह्मचारी का जीवन जगत् की काया पलट देता है। ज्ञान गोष्ठी तो और भी महापुरुष करते थे परन्तु बुद्धदेव ने क्यों वाम-मार्ग के घोर बादलों को छिन्न-भिन्न कर के चिरस्थायी प्रभाव संसार पर छोड़ा। ईसा ने क्यों मसीह की पदवी पाई और उस के उपदेश ने क्यों सदियों तक करोड़ों को शान्ति का पाठ पढ़ाया ? इन सब से बढ़ कर प्राचीन काल में रामचन्द्र तथा सीता के जीवन ने क्यों ऐसा उच्च पद प्राप्त किया कि उन के जीवन की कथा के पाठमात्र से अब तक स्त्री पुरुष पवित्र जीवन लाभ करते हैं ? और इस समय ऋषि दयानन्द के जीवन का पाठ करके क्यों लाखों आत्मा सन्मार्ग में चल कर शान्ति लाभ

कर रहे हैं । उत्तर एक ही है कि ये सब महापुरुष ब्रह्मचारी थे ।

शब्दार्थ

(सर्वे पितरः देवजनाः) सब पालक देव समूह और (पृथक् देवाः) जुदे जुदे देव (ब्रह्मचारिणम् अनुसंयन्ति) ब्रह्मचारी के पीछे पीछे चलते हैं । (गंधर्वाः एनम् अनु आयन्) गन्धर्व भी इस के साथ (अनुकूल) चल रहे हैं (त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट् सहस्राः, सर्वान् देवान् स तपसा पिपर्ति) सब—३३ × ३३३ × ६३३३—देवों को वह (ब्रह्मचारी) तप से पूर्ण करता है ।

—

३

आचार्य उपनयमानो,
ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति,
तं जातं द्रष्टुमनुसंयन्ति देवाः ।।

अथर्व० काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५, ३ ।

मन्त्र सार

यहां 'रात्रीः तिस्रः' के भावार्थ को ही स्पष्ट करना है। रात अन्धकार का समय है । यद्यपि तारागण तथा अर्धमास

तक चन्द्रमा भी प्रकाश देते हैं परन्तु वह प्रकाश सारे अन्धेरे को दूर नहीं कर देता। सारा अन्धकार तब दूर होता है जब आदित्य भगवान् अपने यौवन समेत दर्शन देते हैं। यहां तीन रातों से साधारण तीन रात्रि से तात्पर्य नही है, प्रत्युत ब्रह्मचर्य के तीन दर्जों से मतलब मालूम होता है। प्रथम २४ वर्ष तक का ब्रह्मचर्य व्रत वह है जिसे पूरा कर के ब्रह्मचारी वसु (अर्थात् उत्तम गुणों को अपने अन्दर वास कराने वाला) बनता है। परन्तु यह निकृष्ट ब्रह्मचर्य है। जब वसु ब्रह्मचारी को घर जाने की आज्ञा आचार्य देता है तो श्रद्धादेवी उसे प्रेरित कर के उस से कहलाती है—'भगवन्! अभी तो मैं उत्तम गुणों का वास कराने वाला ही बना हूं। अभी प्रलोभन मुझे गिरा सकते हैं। मुझे विशेष साधन का समय दीजिए।' शिष्य की योग्यता को देख कर आचार्य फिर आज्ञा देते हैं। तब ४४ वर्ष की आयु तक तप पूर्वक विद्याभ्यास करता हुआ ब्रह्मचारी रुद्र संज्ञा का अधिकारी बनता है। उस की वह प्रार्थना स्वीकार होती है जो उसने आश्रम में प्रविष्ट होते ही आचार्य से की थी—'मा तनु अश्मा भवतु' 'मेरी बनावट [शरीर और मन] चट्टान की तरह दृढ़ हो जाये।' तब वह ऐसा बलिष्ट हो जाता है कि विषय और पाप उस की बनावट से टकरा-टकरा कर छिन्न-भिन्न हो जाते और रोते हैं। उन्हें रुलाने का हेतु होने से ब्रह्मचारी रुद्र बन जाता है।

फिर भी उस का पूर्ण प्रकाश नहीं हुआ। जब विषय और पाप समीप आते रहें, जब अन्धेरा आस-पास घूम सके; तब भी गिरने का भय बना ही रहता है। इसी लिए ऐसे सुबोध ब्रह्मचारी को जब गुरु समावर्तन की आज्ञा देते हैं, तब वह फिर हाथ जोड़ कर विनय करता है—'भगवन्! अभी अन्धकार ने मुझे घेरना नहीं छोड़ा। आत्मा निश्चिन्त नहीं हुआ, इस पवित्र आश्रम द्वारा सावित्री माता के गर्भ में सुरक्षित होकर कुछ काल और निवास करने की आज्ञा मुझे प्रदान कीजिए।'

गुरु की आज्ञा से शिष्य तीसरी रात [अन्धकार से घिरी हुई अवस्था] भी गर्भ में बिताता है। तब उस के दृढ़ तप से अन्धेरा दूर हो जाता है और वह सावित्री के गर्भ से बाहर आकर आचार्य को प्रणाम करता है। तब आचार्य उस ब्रह्मचारी के मस्तिष्क को सूर्य की भांति देदीप्यमान देख कर आशीर्वाद देता है—'तू अब आदित्य है। तेरा प्रकाश स्थिर होगा। अन्धकार का हौसला ही न पड़ेगा कि तेरे समीप पहुंच सके' बस तीसरी रात भी व्यतीत हो गई और ब्रह्मचारी का दिव्य तेज फैल गया और तब वह द्विज बन कर देव पुरुषों से सम्मानित होकर उन में शामिल हो जाता है। इसी वेद मंत्र की व्याख्या में मनु भगवान् ने कहा है—

मातुरग्रेऽधिजननं, द्वितीयं मौञ्जीबन्धनं।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां, द्विजस्य श्रुतिचोदनात्॥

तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य, मौञ्जिबंधनचिन्हितम् ।
तत्रास्य माता सावित्री, पिता त्वाचार्य्य उच्यते ॥

श्रुति की आज्ञा से द्विज के. प्रथम माता से जन्म, दूसरे उपनयन वा व्रतबन्ध और तीसरे यज्ञ की दीक्षा में ये तीन जन्म होते हैं। इन पूर्वोक्त तीनों जन्मों में, वेद ग्रहणार्थ, उपनयन संस्कार रूप जो जन्म है, उस जन्म से उस (ब्रह्मचारी) की माता सावित्री और पिता आचार्य कहाते हैं।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र मे लिखा है—'सह विद्यातस्तं जनयति। तच्छ्रेष्ठ जन्म। शरीरमेव मातापितरौ जनयत.' इसी भाव को लक्ष्य मे रख कर वर्तमान मनु-स्मृति के कर्ता ने लिखा है:—

कामान्माता पिता चैन यदुत्पादयतो मिथः ।
संभूतिं तस्य तां विद्याद्यायोनावभिजायते ॥
आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या सा जरामरा ॥

माता-पिता तो, जीवन विद्या के ज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण काम वश हो कर भी सन्तान उत्पन्न करते हैं, परन्तु वह जन्म अजर और अमर है जो ब्रह्मचारी को विद्या के गर्भ में रख कर आचार्य देता है। धन्य है वह देश और धन्य है वह जाति, जिस मे आदित्य आचार्य ब्रह्मचारियों को अमर जीवन का दान देते हैं!

आचार्य कौन हो सकता है ? जो शिष्य को अमर जीवन प्रदान करने की शक्ति रखता हो। जिसने स्वयम् अमर जीवन प्राप्त नहीं किया, जो स्वयम् इन्द्रियों का दास और कमजोरियों का शिकार है, उसे पवित्र आचार्य पद ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं होना चाहिए। एक बड़े विदेशी अनुभवी विद्वान् की उक्ति प्रसिद्ध है कि कवि की तरह अध्यापक भी घड़े नहीं जा सकते, वे जन्म से ही शक्ति लेकर आते हैं। अनेक जन्मों के साधनों से बुरे संस्कार धुलते हैं, यह ऋषियों के आदेश का सार है। आत्माओं के कुसंस्कारों को धो कर उन में उत्तम संस्कारों के प्रवेश कराने के लिए उग्रतप की जरूरत है। तब कैसी गिरी हुई दशा उस देश और उस काल की समझी जाय जिस में आचार्य का काम एक पेशा बना लिया जाता है। वेद का उपदेश यह है कि जो शरीर, आत्मा और मन की शक्ति से शिष्य को सुरक्षित कर के उसे देव सभा का सभासद् बना सके वही आचार्य पद का अधिकारी है।

शब्दार्थ

(आचार्यः) आचार्य (उपनयमानः) यज्ञोपवीत देते हुए (ब्रह्मचारिणं) ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करने वाले ब्रह्मचारी को (अन्तः गर्भं कृणुते) (विद्याशरीरस्य मध्ये गर्भं करोति) विद्या रूपी माता के शरीर के अन्दर गर्भ रूप से धारण करता है। (तं तिस्रः रात्रीः उदरे बिभर्त्ति) उस (गर्भस्थ ब्रह्मचारी)

को तीन रातों तक उसी (गुरुकुल रूपी) गर्भ में रखता है। (जातम्) तब उस के उत्पन्न होने पर (तं द्रष्टुं) उस को देखने के लिए (देवाः अभिसंयन्ति) विद्वान् आते हैं।

—

४

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयो-
तान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया,
श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥

अथर्व०, काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५।

मन्त्र सार

ब्रह्मविद्या के जिज्ञासु को गुरु के पास हाथ में समिधा लेकर जाना चाहिए। खाली हाथ जाना मना है। याचक को अभिमान दूर रख देना चाहिए। वेद में कहा है कि श्रद्धा की समिधा लेकर प्रभु पूजा में प्रवृत्त होना चाहिए। ब्रह्मचारी की सम्पत्ति समिधा ही है क्योंकि ब्रह्मचर्य तप रूपी यज्ञ ही है। ब्रह्मचर्य का उद्देश्य वेद विद्या द्वारा ईश्वर प्राप्ति है, वह प्राप्ति ही इस ब्रह्मयज्ञ का फल है।

ब्रह्मचारी तीन स्थूल समिधाओं को तो नित्य प्रदीप्त अग्नि

में डालता ही है परन्तु ज्ञानाग्नि को प्रदीप्त करने के लिए भी उसे तीन समिधाओं की ही आवश्यकता है। वह तीन समिधा कौनसी हैं ? प्रथम पृथिवी, द्वितीय द्यौः और तीसरी अन्तरिक्ष। इन्हीं के ज्ञान में सारा ज्ञान आ जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् के शिक्षाध्याय मे पहले गुरु शिष्य को, वर्ण, स्वर, मात्रा, प्रयत्न, उच्चारण और सन्धि का ज्ञान देकर उस शब्द शिक्षा के पश्चात् अर्थशिक्षा प्रारम्भ करता है। अर्थशिक्षा में पांच अधिकरण बतला कर उन में पहला अधिलोक प्रकरण है। इस दृश्य कार्य जगत् का नाम ही अधिलोक है। उस में 'पृथिवी पूर्वरूपं। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः सन्धिः। वायुः सन्धानम्। इत्यधिलोकम्।।' भूमि ही इस आत्मिक यज्ञ की कार्य सिद्धि में आधार स्वरूप होने से मुख्य साधन है। उस सर्व इन्द्रियों से ग्राह्य पृथिवी और उस की रचना से उठ कर सूर्यादि प्रकाशक लोकों का ज्ञान संभव है। वहां बाह्य इन्द्रियों में से केवल एक चक्षु इन्द्रिय की ही गम्यता है। यद्यपि वह प्रकाश गौण साधन है तथापि उस दूर स्थित प्रकाश के बिना निकटस्थ पृथिवी के प्रत्यक्ष दर्शन कठिन ही क्या असम्भव हैं। द्यौः इस लिए उत्तर रूप है। परन्तु पृथिवी और द्यौः—इन दोनों का मेल कहां होता है ? यदि अन्तरिक्ष न हो तो सूर्य का प्रकाश ब्रह्मचारी तक कौन पहुंचावे ? इस लिए अन्तरिक्ष ही उन दोनों के मेल का स्थान है। पृथिवी और द्युलोक की विद्या की प्राप्ति

असम्भव है जब तक कि अन्तरिक्ष उन्हें परस्पर मिलाने वाला हो। तब अन्तरिक्ष की विद्या से ही पहिली दोनों विद्याओं का निश्चय होता है। ये तीनों इस शिक्षारूपी आत्म यज्ञ की तीन समिधा हैं। इन्हीं तीनों का ज्ञान नित्य प्राप्त करने से आत्म-यज्ञकी अग्नि प्रदीप्त रहती है। ये तीन समिधा है परन्तु इनको यज्ञ-कुण्ड मे डालने का हाथ रूपी मुख्य साधन वायु है—यह उपनिषद् ने स्पष्टीकरण के लिए विशेष व्याख्या की है। प्रकाश भले ही अन्तरिक्ष मे रहे परन्तु उस की किरणे वायु के बल से ही पृथिवी तक पहुचती है।

ससार के प्रलोभन ब्रह्मचारी को चारो ओर से घेरते हैं। विषयो की प्रबल शक्तिया उस पर सारे बल से प्रहार करती है। उन का मुकाबला अल्प जीव कैसे करे ? उन का मुकाबला नहीं हो सकता; उन शक्तियो को तृप्त करने से ही वे ब्रह्मचारी का पीछा छोड़ती हैं ? क्या भोग से उनकी तृप्ति होती है ? मनुष्य अज्ञानवश समझता है कि वह विषयों को भोग रहा है; उलटा विषय उस का भुगतान कर देते है। उन के चंगुल से कैसे छूटे ? इस बात का ज़िक्र करते हुए कि जो मनुष्य काम भोग नहीं करता और ब्रह्मचर्य का जोवन व्यतीत करता है उस मे वीर्य स्खलित होने का सर्वथा अभाव असम्भव है, अमेरिका के डाक्टर विलियम् जे. राबिनसन एम. डी. लिखते हैं—

"There is only one exception to this statement, men

engrossed in an all absorbing mental task may, even while living continent life, go for months and years without an omission."

अर्थात् इस कथन मे केवल एक ही अपवाद हो सकता है वह यह कि जो लोग लगन से किसी मानसिक काम में लगे हुए हैं वे ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करते हुए भी महीनों और वर्षों तक भी बिना वीर्य स्खलन के रह सकते हैं। डाक्टर राबिन्सन से बहुत पहिले ऋषि दयानन्द ने इस विषय पर लिखा था—'जिस पुरुष ने विषय के दोष और वीर्य रक्षण के गुण जाने हैं वह विषयासक्त कभी नहीं होता, उस का वीर्य विचाराग्नि में ईंधनवत् है अर्थात् उसी मे व्यय हो जाता है।

ब्रह्मचारी सांसारिक, विरोधी मे शक्तियों को कैसे तृप्त करता है? पृथिवी, प्रकाश और अन्तरिक्ष से जो आक्रमण उस पर होते हैं उनको वह कैसे निवारण करता है? वह इन्हीं तीनों को समिधा बनाता है और उन्हें ज्ञानाग्नि मे आहुति देकर भस्म कर देता है। भस्म का तात्पर्य यह नहीं कि उनका अत्यन्ताभाव हो जाता है प्रत्युत मतलब इतना ही है कि रूपान्तर में जाकर वे उस ब्रह्मचारी को अपने धर्म से विचलित नहीं कर सकते।

हां! इन तोन समिधाओं से आत्मयज्ञ प्रदीप्त कैसे किया जाय? उस के लिये श्रम की आवश्यकता है। उस श्रम रूपी बल की प्राप्ति के लिए मेखला ही एक मात्र साधन है।

जननेन्द्रिय को स्वाद के प्रलोभन से बचाने के लिए ब्रह्मचारी मेखला धारण करता है। बिना समिधाधान के मेखलाधारण करने के योग्य (अर्थात् लंगोट का सच्चा, यति) नहीं हो सकता और बिना मेखला (तड़ागी) धारण किए अर्थात् लंगोट-बन्द हुए श्रमी नहीं हो सकता और उस 'श्रम' से ही अन्त में तप की प्राप्ति होती है। तब सब लोकों को तृप्त करने का साधन तप ही सिद्ध होता है।

उपनिषत् की भाषा में इस लिए कह सकते हैं कि 'समिधा पूर्वरूपम्, मेखला उत्तररूपम्। श्रमः सन्धिः। तपः सन्धानम्॥' यदि ब्रह्मचारी तप द्वारा श्रमी बन कर वीर्य रक्षा द्वारा उस बल को दृढ़ करले और फिर अपनी सारी शक्तियों को पृथिवी लोक, द्युलोक और अन्तरिक्षलोक की विद्या के प्राप्त करने में एक चित्त हो कर लगा दे तो फिर वह तप में दृढ़ता प्राप्त कर लेता है और तपस्वी बन कर सर्व बाह्य शक्तियों को ऐसा तृप्त कर देता है कि वे उसको गिराने का साहस करने के स्थान में उस की सहायक होती हैं।

शब्दार्थ

(इयम्-पृथिवी-समद्द्) पृथिवी लोक पहिली समिधा है (द्यौः द्वितीया) दूसरी प्रकाशमान द्युलोक और तीसरी (अन्तरिक्षं समिधा) अन्तरिक्ष समिधा है। इन तीनों से ब्रह्मचारी यज्ञ को पूर्ण करता है। (ब्रह्मचारी समिधा मेख-

लया श्रमेण तपसा लोकान् पिपर्ति) ब्रह्मचारी (१) समिधा से (२) मेखला से (३) श्रम से (४) और तप से लोकों, विषयों की तृप्ति करता है।

—

५

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी
घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं
देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्॥

अथर्व० काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५. ५।

मन्त्र सार

सृष्टि प्रवाह से अनादि है—यही सिद्धान्त सृष्टि उत्पत्ति की समस्या को हल करता है। और कोई भी कल्पना करो—शून्य से सृष्टि हुई, सदा से कार्य जगत् ऐसा ही है इत्यादि—वास्तव में सृष्टि की समस्या हल नहीं होती। तब सृष्टि प्रवाह से अनादि है—सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थूल रूप धारण करती है और फिर अपने उपादान कारण में लीन हो जाती है यही प्रवाह चल रहा है।

सृष्टि के आदि में जहां परमात्मा ने भौतिक आंखों को लाभदायक बनाने के लिए भौतिक सूर्य का प्रकाश किया वहां मनुष्य की बुद्धिरूपी अन्तरीय आंखों को सुखदायक बनाने के लिये वेद ज्ञान का भी प्रकाश किया। जिस तप के प्रभाव से भौतिक सूर्य का उदय हुआ उसी तप के बल (तेभ्यः तप्तेभ्य-स्त्रयो वेदा अजायन्त) से तीनों (ज्ञान, कर्म, उपासना रूपी) वेदों का प्रकाश हुआ। उस ब्रह्म विद्या का जिस द्वारा प्रकाश हुआ, वही ब्रह्म—वेद का जानने वाला और उस में गति रखने वाला ब्रह्मचारी ब्रह्मा कहलाया। ब्रह्म वेद की ओर चर (गति—ज्ञान, गमन प्राप्ति) गतिमान् हो कर जिसने पहले उस मे गमन कर के उस को प्राप्त किया इस लिए ब्रह्मा प्रथम ब्रह्मचारी है। तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। तुम तेज स्वरूप हो मुझ में भी तेज को धारण कराओ। इस प्रार्थना को ब्रह्मा ने ही सार्थक बनाया। तप द्वारा उस उग्रतेज को धारण करके वह सब से ऊंचा उठ कर मनुष्य सृष्टि का आदि गुरु बना। जब-जब सृष्टि होती है, उसका उत्तर क्रम चढ़ाने वाला आदि-पुरुष भी उत्पन्न होता है। इसी भाव को लेकर श्वेताश्व-तरोपनिषत् में कहा है—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।' इसी भाव को प्रकट करते हुए उपरोक्त वेदमन्त्र का मानो एक प्रकार का भाष्य ही मुण्डको-पनिषत् में किया है—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
सब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥

कल्प, के आरम्भ से (वर्णाश्रम) धर्म का प्रचारक और (उस विद्या के प्रचार द्वारा) सब प्राणियों का रक्षक, वेदवेत्ताओं में पहिला (अर्थात् समग्र वेद को जानने वाला) पुरुष अमैथुनी सृष्टि में ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। सब विविध विद्याओं में निष्णात ब्रह्मा जी ने उस ब्रह्मविद्या को अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को उपदेश किया।

अथर्वा ने अङ्गिरा को और उसने अपने शिष्यों को— इसी प्रकार शिष्य प्रशिष्य परम्परा से ब्रह्मविद्या का प्रचार चला आता है। वेद के तीनों काण्डों का शंका समाधान होकर अथर्ववेद में उन का पूर्ण ज्ञान होता है इसी लिए अथर्ववेद को ही वेद का अन्त कहना ठीक है। इसी लिए जिस समर्थ शिष्य को ब्रह्मा ने वेद ज्ञान दिया उसका नाम अथर्वा हुआ और उसी से वेदान्त के प्रचार की परम्परा चली।

ब्रह्मा पहिला ब्रह्मचारी हुआ, उसी से ब्रह्म वेद के जानने वाले ब्राह्मण उत्पन्न हुए। ब्राह्मण कौन है ? जन्म से तो सब शूद्र है—ब्रह्म को चीन्हने से ही ब्राह्मण बनता है।

जन्मना जायते शूद्रस्संस्काराद्द्विज उच्यते।
वेदाभ्यासाद् भवेद्विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः॥

आदि, सब से ऊंचे स्थित, ब्रह्मचारी ब्रह्मा ने ही संस्कार द्वारा दूसरा जन्म देकर अथर्वा को ब्राह्मण बनाया और फिर वही परम्परा चलती रही। सब विद्वान् ब्रह्मा की प्रथम शिक्षा को शिरोधार्य समझ कर ही मोक्ष रूपी अमृत का पान करते हैं और अब भी यदि सच्चा आचार्य मिल जावे और वह ब्रह्मचारी को विद्या माता के गर्भ में स्थित कराके, तीन रात्रि (४८ वर्षों की आयु) तक रख कर उस की पूर्ण रक्षा के पश्चात् दूसरा आत्मिक जन्म दे तो निस्सन्देह वह आदित्य ब्रह्मचारी अमर जीवन को साथ लेकर ही उत्पन्न हो। इसी भाव को कैसी उत्कृष्ट भाषा मे मनु भगवान् ने प्रकट किया है।

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये॥

पृथिवी में ब्राह्मण का जन्म होना ही श्रेष्ठ है क्यों कि वही धर्म के खज़ाने का रक्षक है। ब्राह्मण सदा ब्रह्मचारी है क्योंकि वह इन्द्रियों को वश में रखता है और गृहस्थाश्रम के कर्तव्य पालन करता हुआ भी इन्द्रियों का गुलाम नही बनता। वह इतना ऊंचा उठता है कि उसे भोग नीचे नही खीच सकता। वह सारे जगत् के पदार्थों को अपना ही समझता है इस लिए उसके वास्ते कोई भी वस्तु अप्राप्त नही रहती—

सर्वं स्वं ब्राह्मस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम् ।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥

जो कुछ भी जगत् के पदार्थ हैं वे सब ब्राह्मण के हैं, ब्रह्मोत्पत्ति रूप श्रेष्ठता के कारण ब्राह्मण सम्पूर्ण को ग्रहण करने योग्य है । तब तो मनु महाराज का कहना ठीक ही है कि—

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरेजनाः ॥

ब्राह्मण अपना ही खाता, अपना ही पहिरता और अपना ही दान देता है । इस मे सन्देह नहीं कि और लोग ब्राह्मण का दिया हुआ भोगते है । संसार के भोगों में आप न फंसकर जो ब्राह्मण अन्य सारी प्रजा को यथार्थ भोग के लिए कमाई करने का सीधा मार्ग सिखाता है—वही धन्य है ।

अब भी यज्ञ मे ब्रह्मा का उच्चासन रहता है । यजमान और अन्य सब यज्ञ-पुरुषों को विषय मे चलाना अब भी ब्रह्मा का ही अधिकार है । गिरते हुओ को वही टोक कर गिरने से बचाता है । मनु भगवान् ने धर्माधर्म का निर्णय करने के लिए दस विद्वानों की सभा और न्यून से न्यून तीन वेदों के जुदा-जुदा जानने वाले तीन की धर्म सभा का जो विधान किया है उसमें जो व्यवस्था, एक चारों वेदों का ज्ञाता, तदनुकूल

आचरण रखने वाला ब्रह्मचारी दे, उसकी बड़े से बड़े बहुपक्ष पर भी प्रधानता दी है।

संसार में जब तक ऐसी गुरु-शिष्य परम्परा स्थिर रहती है तब तक उसके अन्दर धर्म और शान्ति का राज रहता है और जब उस परम्परा मे बाधा पडती है तब ही अधर्म और अशान्ति का दौरदौरा चलने लगता है। जब-जब भी पहिले ब्रह्मचारी का आदर्श सर्वसाधारण की आंखों से ओझल होता है तब-तब ही प्रजा का सम्मिलित आत्मा उसके लिए व्याकुल हो कर पुकारता है। जब प्रजा के इस अनुताप में स्वच्छ, निर्मल, शुद्ध भाव प्रवेश करता है तब प्रजा के मालिक फिर से ब्रह्मचारी ब्रह्मा को संसार के उद्धार की आज्ञा देते हैं।

हे संसार की व्याकुल प्रजा ! क्या लाखों के रक्त और करोड़ों की आत्महत्या ने तेरे हृदय को अब तक शुद्ध नही किया, जिस से कि अब तक तेरे अन्दर ब्रह्मचारी ब्रह्मा का प्रादुर्भाव नही हुआ। तब प्रभु से प्रार्थना करो कि वह सच्ची शुद्धि प्रदान करे जिससे ससार का शीघ्र कल्याण हो।

शब्दार्थ

(ब्रह्मणः) वेद ज्ञान (की प्राप्ति) से (पूर्वः जातः ब्रह्मचारी) पहला प्रसिद्ध हुआ ब्रह्मचारी (घर्मं वसानः) दीप्त (प्रकाशमय) रूप को प्राप्त होकर (तपसा+उत् अतिष्ठत्) तप से ऊंचा उठता है। (तस्मात्) उस (पहिले ब्रह्मचारी)

से (ज्येष्ठम्+ब्रह्म+ब्राह्मणम्) सब से बड़े वेद द्वारा ब्राह्मण उत्पन्न होते हैं (च सर्वे देवाः+अमृतेन साकम्) और सब विद्वान् अमृतत्व सहित (उत्पन्न होते हैं)।

—

६

ब्रह्मचार्य्येति समिधा समिद्धः
कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः ।
स सद्यएति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं
लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥
अथर्व०, काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५, ६ ।

मन्त्र सार

ब्रह्मचारी को तीनों लोकों की विद्या प्राप्त करने में ऐसी गन से जुट जाना चाहिये और उन लोकों की घटनाओं को इस प्रकार हस्तामलक कर लेना चाहिये कि वे उसके अन्तः-करण के लिये समिधावत् हो जायें। उनको वह ब्रह्मचारी ज्ञानाग्नि से प्रदीप्त यज्ञ-कुण्ड में डालकर यज्ञ-मण्डप की शोभा को चौगुना बढ़ा दे। उस प्रदीप्त ज्ञानाग्नि से उसका अपना हृदय रूपी मुख अत्यन्त प्रकाशित होगा। यह तेज जो ब्रह्म-चारी के पवित्र मुख को प्रकाशित कर रहा है क्षणिक न

रहेगा यह तेज स्थिर होगा ।

यह सारा तैयारी का ज़माना है—यह साधन काल है जिस में मनुष्य साधन सम्पन्न बनता है। कर्म के बन्धनों में फसे हुए साधारण मनुष्य के लिये विषयों में प्रवृत्ति साधारण अवस्था क्या—एक प्रकार से स्वाभाविक बन जाती है। उस अवस्था को बदलना ही ब्रह्मचर्याश्रम का उद्देश्य है। प्रवृत्ति के स्थान में निवृत्ति मार्ग का आश्रय लेकर ही विषयों की दासता को त्याग कर मनुष्य उसका स्वामी बनता है। परन्तु यह निवृत्ति मार्ग जहां जीवात्मा को अपनी बनावट तथा तन्निर्दिष्ट ब्रह्माण्ड की गुलामी से कर आजाद देता है वहां है यह बड़ा बीहड़ रास्ता। इस दुर्गम पथ पर चलना तलवार की धार पर नृत्य करने के बराबर है। तब क्या यह मार्ग असाध्य कर्म है? साधन-शून्य पुरुषों के लिए जहाँ यह असाध्य है वहां साधन सम्पन्न ब्रह्मचारी के आगे इस की सब मंजिलें अपने आप साफ हो जाती हैं और वह बेखटके इन में से गुज़र जाता है। ब्रह्मचारी को न शारीरिक बनाव चुनाव की सुध है और न उस के सिंगार की बुध। वह तत्व के उच्चासन की ओर दृष्टि लगाए सांसारिक फंसावटों से बेलाग जा रहा है।

ब्रह्मचारी जब अपने व्रत को पूर्ण करके विद्या-व्रत स्नातक होकर समावर्तन के लिये तैयारी करता है तो उस का वेश

क्या होता है ? काले मृग का चर्म तो उसका ओढ़ना है और दाढ़ी मूछें उस की बहुत बढ़ी हुई हैं। अस्वाभाविक जीवन व्यतीत करते-करते जहां मनुष्यों को परमात्मा के दिये हुए श्रेष्ठ भोज्य पदार्थ पचाने के लिए गर्म मसालों और खटाई आदि की ज़रूरत होती है, वहां शौच के नियमों को भुला कर मनुष्यों ने और भी अनावश्यक अवस्थाएं उत्पन्न कर ली हैं। ब्रह्मचारी के लिए नापित की आवश्यकता नहीं और न सेफ़्टी-रेज़र और मशीन या कैंची की। उसके शरीर के बाल, स्वतन्त्रता से बढ़ कर, जहां उसके अन्दर की विद्युत को उत्तेजित कर के उस की रक्षा करते हैं वहां काले मृग का चर्म उस के शरीर को सर्दी-गर्मी के बाह्य आक्रमणों से बचा कर उस को निःस्पृह जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाता है। ब्रह्मचारी को एक धुन लगी है, और वह धुन है—तत्वान्वेषण की। इस के लिए वह संसार के सुखों को न्यौछावर कर देता है और सब प्रकार के भोगों को त्याग देता है। और वह भोगों में फंसे भी कैसे ? जब वह प्रत्येक अवस्था में आनन्द ही आनन्द अनुभव करता है, जब अपने त्याग के आगे इन्द्रियों को और विषयों को शिर झुकाये देखता है—जब देखता है कि सचमुच इन का स्वामी वह बन रहा है तब वह भोगों का भोग्य पदार्थ कैसे बन सकता है।

काले मृग का चर्म धारण किए, बढ़ी हुई दाढ़ी-मूंछ वाला

ब्रह्मचारी ही भोगों से भोगे जाने के स्थान में उन्हें अपना आज्ञा पालक सेवक बनाता है। मनु भगवान् ने यज्ञ प्रधान देश में ही ब्राह्मण को बसने की आज्ञा देते हुए यज्ञ प्रधान देश के जो विशेषण बतलाये हैं उन में एक विशेषण यह है कि उस प्रदेश में काले मृग स्वतन्त्रता से विचरते हों। इस लिए काले मृग का चर्म प्राप्त करने के लिए उन के घात करने को मनुस्मृति ने भी लक्ष्य में नहीं रक्खा। जहां काले मृग स्वतन्त्रता से विचरते हैं वहां उन का चर्म, उनकी स्वाभाविक मृत्यु पर वनियों के लिए प्राप्त करना बहुत सुगम है।

जिस आश्रम निवासी ब्रह्मचारी ने आचार्य की दृष्टि से रक्षा पाते हुए सर्दी-गर्मी की ताड़ना से ऊंचे उठ कर ब्रह्म तेज को धारण कर लिया है वही दीक्षा का अधिकारी होता है—'व्रतेन दीक्षामाप्नोति।' चाहे विद्या की पाठविधि समाप्त भी कर चुका हो परन्तु ब्रह्मचारी दीक्षा का अधिकारी उसी समय होता है जब कि वह व्रतस्नातक बनने की योग्यता प्राप्त करले, तब वह पहिले समुद्र को नियम-पूर्वक लांघ कर दूसरे समुद्र में प्रवेश करता है। ब्रह्मचर्य पहिला समुद्र है। जिसने इस पहिले समुद्र में गोते खाए हों, जिसने ब्रह्मचर्याश्रम में रहते हुए उसके पवित्र नियमों को तोड़ा हो, जिसे पूर्वाश्रम में ही विषयों ने भोग कर खोखला कर दिया हो वह गृहस्थाश्रम रूपी उत्तर समुद्र में प्रवेश करने का साहस क्यों करता है?

इसलिये कि अविद्या ने उस को अन्धा कर दिया है और उसमें देखने की शक्ति नहीं बची। गृहस्थ रूपी उत्तर समुद्र में काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार रूपी बड़े-बड़े मगरमच्छ मुंह खोले विचर रहे हैं, भयंकर भोग की लहरें उठ रही हैं—वहां इन्द्रिय-दमन द्वारा सुदृढ़ रहना ब्रह्मचारी का ही काम है। ब्रह्मचर्य साधन का फल क्या है ? वेद का उत्तर है 'लोक संग्रह।'

समुद्र अथाह है, आन्धी के थपेड़े लहरों को बल्लियों ऊपर ले जा रहे हैं और उसके अन्दर मनुष्यों से भरी हुई किश्ती फंस गई है। आमने-सामने की लहरों ने किश्ती को भवर में फंसा दिया है। उस किश्ती को कौन निकाले ? किनारे पर हा हा कार मच रहा है, परन्तु किसी का साहस नही पड़ता कि हिल सके। किश्ती के यात्री लहरों की हलचल के मद से उन्मत्त अपनी शोचनीय अवस्था को अनुभव नही करते। सिर में चक्कर आ रहा है और ऐसा अन्धेरा छा गया है कि उन्हें अपनी हीन दशा का परिज्ञान ही नही। ऐसी दशा में एक तेजस्वी महात्मा जङ्गल में चले आ रहे हैं। एक क्षण में उन्होंने सारी अवस्था को जाँच लिया और एक दम से समुद्र में कूद पड़े। देखते-देखते यह गए ! वह गए ! किश्ती को जा पकड़ा और उछल कर ऊपर चढ़ गए। पतवार को भय के नशे में चूर भोगी से छीन कर अपने हाथ में लिया, और किश्ती सभल गई। वह लहरों की भवर से निकली और

किनारे पर लग गई।

ब्रह्म को प्राप्त, ब्राह्मण, ब्रह्मचारी किस लिए तैयारी करता है ? क्या विषयों का दास बनने के लिए ? यदि यही उद्देश्य होता तो भौतिक गृह से आत्मिक गर्भ में पुनः प्रवेश का क्या मतलब ! ब्रह्मचारी सारी तैयारी इस लिए करता है कि स्वार्थ को भूल कर संसार की पीड़ित प्रजा के दुःखहरण करने के लिए जनता का सच्चा मार्ग दर्शक बने। ऐसे ब्रह्मचारी उत्पन्न करने का अधिकार आर्यावर्त्त के गुरुकुलों को था। क्या वह समय फिर लाया जा सकता है ? यदि नहीं, तो संसार के पुनरुद्धार की आशा छोड़ देनी चाहिए।

शब्दार्थ

(ब्रह्मचारी समिधा समिद्धः) जो ब्रह्मचारी समिधा (पृथिवी लोक, सूर्य लोक, तथा अन्तरिक्ष लोक के विद्यारूपी यज्ञ) से प्रकाशित (कार्ष्णम् वसानः) काले मृग का चर्म धारण किए (दीर्घश्मश्रुः दीक्षितः एति) बढ़ी हुई दाढ़ी मोंछ वाला दीक्षित होकर चलता है। (सः सद्यः पूर्वस्मात् उत्तरम् समुद्रम् एति) वह शीघ्र ही इस (ब्रह्मचर्य रूपी) पहिले से ऊपर के (गृहस्थ रूपी) समुद्र को प्राप्त होता है और (लोकान् सगृभ्य मुहुः आचरिक्रत्) लोक संग्रह कर के बार-म्बार अभिमुख (अर्थात् वश में) करता है।

—

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं,
प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम्।
गर्भो भूत्वामृतस्य,
योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्ह॥
अथर्व० काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५, ७।

मन्त्र सार

ब्रह्मचर्य की आधारशिला वेदारम्भसस्कार है। ब्रह्मचारी सब से पहिले आचार्य से वेदमन्त्र (गायत्री) की दीक्षा लेता है। फिर से ही उसे प्राणविद्या का ज्ञान होता है। ज्ञान बिना अभ्यास के कुछ भी फल नही लाता। प्राणविद्या का ज्ञान इस लिए आवश्यक है कि उस से प्राणों को वश मे लाया जा सके। इसलिये वेदाभ्यास के साथ ही उसे तीन प्राणायाम नित्य करने की शिक्षा मिलती है। तप ब्रह्मचर्य का मूल है और मनु भगवान् कहते हैं कि (प्राणायाम: परंतप:) प्राणायाम ही बड़ा तप है। प्राणों को वश में करने से ही मन वश में आता है और तब इन्द्रियां डावांडोल नही होती मन की एकाग्रता से ही संसार का यथार्थ दर्शन होता है। डांवाँडोल मन संसार के वास्तव्य को नहीं समझ सकता। संसार का वास्तविक स्वरूप देखने के लिये निश्चल मन की आवश्यकता है। जब लोक-सग्रह

ब्रह्मचारी का परम अधिकार है तो उससे पहिले उसे लोक का यथार्थ स्वरूप मालूम होना चाहिए। वेद विद्या की प्राप्ति का फल प्राणविद्या में प्रवेश और प्राण विद्या द्वारा प्राणों को वश में करने का फल जगत् के वास्तविक स्वरूप को जानना है।

लोक के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान किस लिए चाहिए ? इसलिए कि उस लोक के ठीक (लोक्—दर्शने) दर्शन हो सकें। रूप से विमोहित होकर मनुष्य व्याकुल पागलों की भांति उसी की ओर टिकटिकी लगा देते हैं। परन्तु प्राणों को वश में कर के ब्रह्मचारी विचार करता है—क्या अस्थी, मज्जा और चर्मादि की यह चमक है जो सुन्दर मानवी चेहरे को दहका रही है ? क्या जड़ प्राकृतिक जिह्वा के अन्दर वह लालित्य है जो सहस्रों को मूछित कर देता है ? क्या पत्थर, पानी और पोल के अन्दर वह घटा छिपी हुई है जो हिमशिला की ओर स्वभावत मनुष्यों की बाहरी आंखों को आकर्षित कर रही है ? प्राण के विजेता ब्रह्मचारी की अन्दर की आंखें खुल जाती हैं और वह देखता है कि जड़ में सौन्दर्य नहीं है। जिस प्रकार चन्द्रादि लोक सूर्य से प्रकाश प्राप्त कर के ही प्रकाशित होते हैं, इसी प्रकार सारी प्रकृति सौन्दर्य को किसी अन्य उच्च शक्ति से धारण करती है। सारा सौन्दर्य उस प्रभु का है जो सब से ऊंचा स्थित, सब में व्यापक हो कर सब को प्रकाश दे रहा है—जो सूर्य लोकों का भी द्योतक तथा देव और ऋषि

महात्माओं के हृदयों का भी प्रकाशक है।

ऐसी निर्मल बुद्धि को लेकर ब्रह्मचारी दीक्षा से व्रत का अधिकारी बनता है तब उसे बाहर के प्रलोभन अपनी ओर नहीं खींच सकते। मोक्ष-स्वरूप परमात्मा के अन्दर जब आत्मा स्थित हो गया तब अडोल हो जाता है। यही उसका अपूर्व गर्भ है। जब इस गर्भ में स्थित हुआ तो बाहर की 'सुध-बुध' भूल जाता है। हर मुल्क और हर समय में आदर्श विद्यार्थी उसी को माना जाता रहा है जिस का विद्या प्राप्ति की धुन में बाहिरी दुनियां के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। जिसने बालों की दासता, वस्त्रों की दासता, चटोरी ज़बान की दासता, और गोष्ठी की दासता में समय और शारीरिक बल को नष्ट किया है वह सावित्री माता के गर्भ में कभी गया ही नहीं।

जिस प्रकार हाथ-पैरादि अवयव बन जाने पर प्राकृतिक माता के गर्भ में बालक हाथ-पैर मारने लगता है और बुद्धि-मती माता उसे धार्मिक पिता की सहायता से शान्त कर देती है इसी प्रकार जब सावित्री माता के गर्भ में ब्रह्मचारी जल्द-बाज़ी से कुछ व्याकुल होने लगता है तो आचार्य की सहायता से विद्यामाता उसे सावधान कर देती है। यह गर्भ का समय बड़ा नाज़ुक है, विशेषतः आरम्भ का समय। जब आरम्भ के पांच मास व्यतीत हो जायें तो फिर माता सन्तान की ओर से निश्चिन्त हो जाती है। इसी प्रकार जब ब्रह्मचारी गुरुकुल

निवास के पहले दश वर्षों के अन्दर से सही सलामत गुजर जाय तो जहां वेद विद्या पर उस का विश्वास हो जाता है वहां आचार्य भी उस की रक्षा से अपेक्षया निश्चिन्त हो जाता है। जब इस प्रकार सुरक्षित ब्रह्मचारी जन्म लेकर द्विजन्मा बनता है तब निसन्देह वह (इन्द्र) पद का अधिकारी होता है।

'इन्द्र' कौन है ? मानवी बनावट के अन्दर ही देव और असुर दोनों हैं। ज्ञानेन्द्रिय देव हैं, क्योंकि जीवात्मा जितना भी ज्ञान उपार्जन करता है वह इन्हीं के द्वारा अन्दर पहुंचता है। काम, क्रोध, मद, मोह, लोभादि असुर हैं और वे भी कहीं बाहर से नहीं आते। देवभाव के उलट जाने से अन्दर ही इनकी उत्पत्ति होती है। इन्द्रियरूपी देवों को जब जीवात्मा वश मे कर लेता है तब उसकी 'इन्द्र' संज्ञा होती है और अविद्या रूपी विरोचन (विगत प्रकाश) काम, क्रोधादि को उत्पन्न करके विषयों में जीवात्मा को इन्द्रियों का दास बना लेता है तभी उस की मनुष्य से भी नीचे राक्षस संज्ञा हो जाती है।

ब्रह्मचर्य का अन्तिम उद्देश्य यह है कि ब्रह्म (वेद और परमेश्वर) तेज धारण करके संसार का कल्याण किया जाय और यह नही हो सकता जब तक कि काम-क्रोधादि के दलों को केवल भगा ही न दिया जाय प्रत्युत उन को 'दग्धबीजवत्' नष्ट भी न कर दिया जाय।

ब्रह्मचर्य का आदर्श इस समय लोप हो रहा है, संसार

इस लिये भोग और स्वार्थ के जल में फंस रहा है। इस फांस को काट कर जनता को मुक्त कराना इस समय का सब से बड़ा काम है। क्या माता के गर्भ में कोई ऐसा बालक रक्षा पा रहा है ? उत्तर की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

शब्दार्थ

(ब्रह्म) वेद विद्या (प्राणः) प्राण विद्या (लोकम्) दृश्यमान जगत् और (परमेष्ठिनम्, विराजम्, प्रजापतिम्) सब से ऊंचे स्थित, सब के प्रकाशक, प्रजा पालक (परमात्मा) को (जनयन्) प्रत्यक्ष करते हुए (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी ने (अमृतस्य योनौ गर्भः भूत्वा) मोक्ष प्रदायनी ब्रह्मविद्या (सावित्री) रूपी योनि में गर्भ रूप हो कर और (ह इन्द्रः-भूत्वा) और निस्सन्देह इन्द्र हो कर (असुरान् ततर्ह) असुरों को नष्ट किया है।

—

८

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे
उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी
तस्मिन् देवा. संमनसो भवन्ति ॥८॥

अथर्व० काण्ड ११. अ० ३. सूक्त ५. ८।

स्वयं प्रकाशमान तथा प्रकाशमानों से प्रकाशित–दो ही प्रकार के श्लोकों से जड़ित यह अन्तरिक्षरूपी अथाह समुद्र है। ये दोनों प्रकार के लोक एक ही नियम में परस्पर ग्रथित हैं। जहां एक सौर नक्षत्र के सब अङ्ग एक-दूसरे को अपनी ओर खींच ले और एक सूर्य के गिर्द एक ही नियम से चक्कर लगाने पर अपनी स्थिति स्थिर रख सकते हैं, वहां असंख्यात सौर नक्षत्र एक बड़े नक्षत्र के गिर्द चक्कर लगाते हुए ही शायद, आकाश की शोभा बढ़ाते रहते हैं। इन मे से हमारी पृथिवी अप्रकाशमान लोकों की प्रतिनिधि रूप से तथा हमारा सूर्य प्रकाशमान लोकों के प्रतिनिधि रूप से ही सारी भौतिक विद्या के स्रोत हैं। इन दोनों की विद्या को ब्रह्मचारी के लिए आचार्य ही प्रकाशित करता है। विस्तृत फैली हुई पृथिवी और मानवी आंखों के लिए गम्भीर सूर्यलोक विद्यार्थी की दृष्टि में एक अचम्भा सा दिखाई देते हैं जब तक कि आचार्य का उपदेश उस के लिए उन के रहस्यों को खोल कर नहीं सुलझा देता। आचार्य (अर्थात् ब्रह्मचर्य पूर्वक ब्रह्मचारी की इच्छा करने वाला) ही सचमुच पृथिवी और सूर्य को ब्रह्मचारी के लिए आकृति देने वाला है।

आचार्य ने 'द्यावापृथिवी' का यथार्थ ज्ञान ब्रह्मचारी को दे दिया; परन्तु फिर भी क्या उस ज्ञान से ब्रह्मचारी स्थिर

लाभ उठा सकता है। बिजली चमक जाती है, कुछ काल के पीछे फिर चमक जाती है। परन्तु क्या इस से मनुष्य मात्र को कुछ भी लाभ मिला। अमेरिका में 'बैन्जमिन् फ्रैंकलिन' से पहिले कितनी बार पहाड़ों पर और जङ्गलों में बिजली चमकी, परन्तु सिवाय इस के कि वहां की बालबुद्धि प्रजा आश्चर्यित हो कर मुंह बाय दे, उस का कुछ भी परिणाम न हुआ। परन्तु 'फ्रैंकलिन' ने उसी आकाशव्यापिनी विद्युत् को पृथिवी पर जंजीरों में पकड़ लिया और आज बलवती विद्युत् दिमाग रखने वाले निर्बल से निर्बल मनुष्य की भी दासी बनी हुई है। आकाश से उतार कर पृथिवीतल पर बली विद्युत् को बन्दीगृह में फ्रैंकलिन ने, किस शक्ति के आधार पर डाला। निस्सन्देह वह तप की ही उत्कृष्ट शक्ति थी। उस तप की शक्ति से आज तक प्रकृति के प्रबल से प्रबल चमत्कारों को क्रियावान् विद्वान् काबू करते रहे हैं। तप की शक्ति बड़ी है। आचार्य से मिली हुई शिक्षा को दृढ़ता से धारण करने के लिए तप की ही आवश्यकता है।

एक ही प्रकार का बीज विविध भूमियों में बोया जाता है। सब स्थानों में एक सी ही उपज नहीं होती। इस का कारण क्या है? इस का कारण यही है कि उन भूमियों में शक्तिभेद है। एक ही आचार्य के पास बहुत से विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं। परिणाम में वहां भी बहुत बड़ा भेद पड़ जाता

है। जहां एक विद्यार्थी मूर्ख का मूर्ख रह जाता है वहां दूसरा मौलिक सिद्धान्तों का ग्राविष्कार करने वाला सिद्ध होता है। यह भेद क्यों ? यहां तप का ग्रभाव वा भाव ही मुख्य कारण है। विद्यारूपी बीज सब के लिए एक सा खुला है ग्रौर एक ही प्रकार शिक्षा का हल चला कर उसे बुद्धिरूपी खेतों में बोया जा रहा है। परन्तु जहां तप नहीं वहां पहले तो बीज उगता ही नहीं ग्रौर यदि उगता भी है तो ठीक उपज नहीं होती। ग्राचार्य का परिश्रम तभी फलीभूत होता है जब कि ब्रह्मचारी के ग्रन्दर तप का साधन जागृतावस्था में हो।

एक ही गुरुकुल में, एक ही ग्राचार्य की सरक्षता में, एक ही प्रकार के उपाध्यायों से शिक्षा पाते हुए क्या कारण है कि कोई उत्तम ब्राह्मण बनता है, कोई वीर प्रजापालक क्षत्रिय बनता है, कोई वैश्य बनता है, ग्रौर कोई शूद्र भी नहीं बन सकता। यहां भी तप ही ग्रसमानता का कारण है।

ग्राचार्य जो ज्ञान देता है ब्रह्मचारी तप से उसकी रक्षा करता है। जिस वैदिक ज्ञान के संसार में प्रसरण का कारण भी तप ही है, उस के विस्तार की रक्षा का मूल साधन भी तप ही हो सकता है। ब्रह्मचर्य का भीषण व्रत भी तप के चट्टान पर ही स्थिर रह सकता है। तब ग्राचार्य के लिए उत्तम गुरुदक्षिणा यही है कि जो ज्ञान उसने शुद्ध हृदय से ब्रह्मचारी को दिया है उस की रक्षा ब्रह्मचारी तप द्वारा करे। उस का फल क्या

होगा ? उस ब्रह्मचारी मे सब देवता एक-मन होंगे अर्थात् उस के जीवन मे विघ्नकारी न होंगे प्रत्युत सहायक होंगे। आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य तथा इन्द्र और प्रजापति उस के वश मे होंगे। आग और पानी, हवा और सूर्य, प्राण और मन, विद्युत और यज्ञ—सभी उस के वश में होंगे। उस के लिए लोक-लोकान्तरों के पर्दे उठ जायेंगे और वह प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु के निज स्वरूप को देखता हुआ आत्मिक जगत् में भी राज्य करने के योग्य बन जावेगा।

तप की कैसी महिमा है ? जो तप आह्लाद से भी ऊपर उठाकर, परमानन्द शान्त अवस्था तक पहुंचा सकता है, जो तप दुःखों के गन्ध को भी समीप आने से रोक देता है, जो तप अपने स्वरूप को पहिचानने के योग्य बनाता है—उस तप से मुक्त होने को ही जो नराधम स्वर्ग का साधन समझते हैं, वे ब्रह्मचर्य तथा विद्यार्थी-जीवन के गौरव को समझ ही नहीं सकते। 'सुखार्थिनः कुतो विद्या, विद्यार्थिनः कुतोः सुखम्।' विद्या तपस्वी के लिए है, सुखी के लिए नही। स्वर्ग की कामना से जो यह करते हैं वे अनुभव के बाद स्वय तपस्वी हो जाते हैं। परमपिता ससार भर के विद्यार्थियों को तप के लिए प्रेरित करें यह संन्यासी की हार्दिक प्रार्थना है।

शब्दार्थ

ब्रह्मचारी के लिए (उभे इमे नभसी) इन दोनों परस्पर

बंधे हुए (उर्वी गम्भीरे पृथिवीम् दिवम् च) विस्तृत तथा गहरे इन पृथिवी और सूर्य को (आचार्यः ततक्ष) आचार्य ही आकृति देता है। (ब्रह्मचारी तपसा ते रक्षति) उन दोनों की ब्रह्मचारी तप से रक्षा करता है। (तस्मिन् देवाः समनसः भवन्ति) उस ब्रह्मचारी में सब देवता एक मन होते हैं।

—

९

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी,
भिक्षामाजभार प्रथमो दिवं च।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते,
तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा॥

अथर्व० काण्ड ११. सूक्त ५. मन्त्र ९।

मन्त्रसार

सब दानों में ब्रह्मविद्या का दान ही श्रेष्ठ है। कूप, तड़ागादि, वस्त्र भोजनादि—सब दानों मे ब्रह्मदान ही उत्तम है। मनुस्मृति में कहा है—

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकांचनसर्पिषाम्॥

जल, अन्न, गाय, भूमि, वस्त्र, तिल, सोना, घी—इन

दानों से ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या का दान अधिक विशेष है। आचार्य ही वेद विद्या का दान देता है। वेद की पढ़ाई में; ब्रह्मविद्या के अध्यापन में भी यदि टकापथ ही चला तो फल कुछ नही होगा। विद्या कोई भी हो, उस का अध्ययन ब्रह्म-विद्या द्वारा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए होना ही श्रेयस्कर है और उस ब्रह्मविद्या का सौदा नही हो सकता। उस का निष्कामता से दान ही हो सकता है। जो टकों के बदले पढाता है वह टीचर हो, प्रोफेसर कहलाए, प्रिन्सिपल भी प्रसिद्ध हो, परन्तु वह आचार्य नही बन सकता। आचार्य बनने के लिए पहिला स्वाभाविक गुण यह होना चाहिए कि निष्कामता की पराकाष्ठा पर पहुंच जाय। धन कमाने वाला बनिया आचार्य नही बन सकता, शारीरिक दण्ड देने वाला क्षत्रिय भी आचार्य नही बन सकता; फिर शूद्र का तो कहना ही क्या है। आचार्य बनने के लिए 'ब्राह्मण' का ही अधिकार है। और ब्राह्मण को वेद में शरीर के मुख्य भाग से उपमा दी है। उस भाग मे प्राण हैं जो सारे शरीर को अपने दान से पुष्ट रखता है। प्राण की महिमा इसी लिए बहुत अधिक की गई है। उपनिषदों से आगे बढ़कर अथर्ववेद तक में प्राण की बड़ी प्रशंसा है। यहां तक कहा है कि सारे ब्राह्मण का आधार प्राण ही है—

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति॥

माता जैसे सन्तान की रक्षा करती है वैसे ही प्राण शरीर के सर्व अङ्गों तथा प्रत्यङ्गों की रक्षा करता है। इसी प्रकार मनुष्य समाज रूपी पुरुष की बनावट में ब्राह्मण ही सब का आधार है। ब्राह्मण ही आचार्य हो सकता है। ब्राह्मण यद्यपि दूसरों की कमाई का अन्न-जल ग्रहण कर के पलता है तथापि मनुस्मृति में सब कुछ (जो भी ससार में है) ब्राह्मण का ही बतलाया है—'सर्वस्व ब्राह्मणस्येद यत्किचिज्जगतीगतम्' और फिर कहा है—

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥

ब्राह्मण भोजन करे, पहिरे वा देवे, सो सब ब्राह्मण का अपना ही है। दूसरे लोग जो भोजनादि करते हैं वह केवल ब्राह्मण की कृपा है।

सारा ससार ब्राह्मण के दान से ही पलता है। उस दान-शील श्रेष्ठ ब्राह्मण आचार्य से ब्रह्मचारी पहली भिक्षा में प्रत्यक्ष, विस्तृत भूमि का ज्ञान उपलब्ध करता है। तृण से लेकर पृथिवीपर्यन्त का ज्ञान आचार्य पहिले देता है। वह एक समिधा हुई। परन्तु एक हाथ से ताली नहीं बजती। दो के बिना पूर्ति नहीं होती। पृथिवी प्रत्यक्ष है, इन्द्रियग्राह्य है परन्तु उस के अन्दर के रहस्य बिना विशेष प्रकाश के समझ में नहीं आते। तब आचार्य ब्रह्मचारी को परोक्ष ज्ञान देता है। पृथिवी के

उस को 'द्युलोक' में ले जाता है। भौतिक सूर्य से ले कर आत्मा तक को प्रकाश देने वाला, 'प्रकाश स्वरूप' तक ले जाता हुआ आचार्य शिष्य के लिये भिक्षा पूरी कर देता है। इस परिशिष्ट दान को प्राप्त कर के ब्रह्मचारी 'समित्पाणि' हो कर गुरु के दरबार की ओर चलता है, क्योंकि आचार्य से मिली भिक्षा भी निन्दनीय नहीं–वह भी सराहनीय है, कल्याणकारी है। परन्तु 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' उस गुरुओं के भी गुरु, पूर्व आचार्यों के भी आचार्य, जिस के लिए भूत और भविष्यत् कोई अस्तित्व नहीं रखता—उस परम गुरु से भिक्षा प्राप्त किए बिना ब्रह्मचारी अपने परम उद्देश्य को प्राप्त नहीं होता। आचार्य से प्राप्त किया हुआ दान उसे अगले दान का अधिकारी मात्र बनाता है। पृथिवी और द्यौ के ज्ञान रूपी दो समिधाओं को श्रद्धाजली रूपी दोनों हाथों में ले कर ब्रह्मचारी उस परमतत्व के समीप पहुंचता है। इन्हीं दोनों समिधाओं पर सब लोक आश्रित हैं। वहां पहुंच कर ब्रह्मचारी सब देवों, प्रकाशकों, ब्रह्माण्ड के चलाने वाली शक्तियों को एक ही वीणा की तार बनी हुई, एक ही स्वर से अलापते सुनता है। वहां पहुंच कर द्वन्द्व से मुक्त होता है और अपने आचार्य के लिए सच्चे धन्यवाद का भाव उस के हृदय में उत्पन्न होता है।

संसार सच्चे आचार्यों के बिना पीड़ित हो रहा है। उस का अशान्त हृदय सच्चे पथ-दर्शकों के बिना व्याकुल हो रहा

है परन्तु उधर से आशाजनक शब्द भी सुनाई देता है। शिकायत यह है कि अच्छे विद्यार्थी नहीं मिलते। किन्तु शिकायत करने वाले यह भूल जाते हैं कि सच्चे आचार्य दुर्लभ हो गए हैं। जिस वेद का उपदेश ऊपर दिया गया है। उस वेद का प्रचार जिस देश में खुला था और जिस के आचार्यों के चरणों में बैठ कर सदाचार की शिक्षा लेने अन्य देशों के लोग आते थे, उसी देश में जब आचार्यों का अभाव है तो और किसी स्थान से क्या आशा हो सकती है। नवीन ट्रेनिङ्ग कॉलेज ऐसे आचार्य उत्पन्न करने में अशक्त हैं। जहां दिन-रात आचार्यों के वेतन बढ़ाने का प्रश्न उठाकर बनियों का सा सौदा किया जाता है—उन शिक्षणालयों से आशा रखना व्यर्थ है। हे परमगुरो! तुम्हीं अपने शिक्षणालय के अन्दर इस देव-निर्मित भूमि के विद्वानों को खींच लो, जिस से वे सांसारिक कामनाओं पर विजय प्राप्त करें और ब्रह्मविद्या का दान देने की शक्ति धारण कर के विस्तृत भूमि और प्रकाश की शक्तियों की समिधा ब्रह्मचारियों के हाथों में देकर उन्हें विविध शक्तियों के एकत्र करने के लिए केन्द्र बना सकें।

शब्दार्थ

(ब्रह्मचारी प्रथमः) ब्रह्मचारी पहिले (इमाम् पृथिवीं भूमिं भिक्षाम् आजभार) इस विस्तृत भूमि को शिक्षा में आहरण करता है, (दिवं च) फिर द्युलोक को। और

(समिधौ कृत्वा उपासते) उन दोनों को समिधा बना कर उपासना करता है। (तयोः विश्वा भुवनानि अर्पिता) उन दोनों में सब लोक आश्रित हैं।

—

१०

अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद्,
गुहानिधी निहितौ ब्राह्मणस्य।
तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत्,
केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान्॥

अथर्व० काण्ड ११. अ० ३. सूक्त ५ १०।

मन्त्रसार

ब्रह्मचारी किस से भिक्षा ग्रहण करता है? इस पर लिखते हुए पीछे कहा जा चुका है कि वेद विद्या का दान ही सब दानों मे श्रेष्ठ है और वह आचार्य ही दे सकता है। इस लिये ब्रह्मचारी को आचार्य से ही भिक्षा लेनी चाहिये। उस पहिली द्यौ और पृथिवी (स्वप्रकाशमान तथा दूसरो से प्रकाशित) लोकों की विद्या रूपी भिक्षा प्राप्त कर के ही ब्रह्मचारी को सन्तुष्ट न हो जाना चाहिए, क्योंकि वे सब तो 'परमोद्देश्य की प्राप्ति' के केवल साधन मात्र हैं। आचार्य की हृदय रूपी गुफा

में केवल एक ही खज़ाना नहीं है, उस गुफा के अन्दर एक और कोष भी है जिस का पता ब्रह्मचारी को तब ही लग सकता है जब कि वह पहली भिक्षा को पचाने योग्य बन जावे। तप-पूर्वक गुरुकुल में निवास करता हुआ ब्रह्मचारी द्यौ और पृथिवी—दोनों प्रत्यक्ष लोकों की विद्या प्राप्त कर लेता है। लोक् दर्शने—प्रत्यक्ष होने से ही तो ये सब लोक कहलाते हैं। परन्तु इन प्रत्यक्ष लोकों से परे, इन से भी ऊंचा एक पद है जिस की प्राप्ति ही जीवन का परमोद्देश्य है। भौतिक पृथिवी को भौतिक सूर्य प्रकाशित करता है, परन्तु हृदय मन्दिर को प्रकाशित करने का अधिकार आत्मिक सूर्य को ही है। जो कि जीवात्मा को भी मन्दिर बना कर उसे प्रकाशित करता है और भौतिक इन्द्रियों से अगम्य है। इसी भाव की व्याख्या उपनिषद् में की है—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्। आत्मनोऽन्तरं यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥

जो परमात्मा जीवात्मा में स्थित और जीवात्मा से भिन्न है, जिस को जीवात्मा नहीं जानता कि वह मुझ में व्यापक है, जिस परमात्मा का जीवात्मा शरीर है, जो उसे नियम में रखता है, वही अविनाशी स्वरूप तेरा भी आत्मा है उस को तू जान।

पृथिवी और द्यौ की प्रत्यक्ष विद्या आचार्य की हृदय रूपी

गुफा में एक कोष है, परन्तु इन से भी परे परोक्ष दूसरा खजाना है। यदि ब्रह्मचारी देवमण्डल में शामिल होना चाहता है, अर्थात् वह यह चाहता है कि विद्याव्रत-स्नातक बन कर जब वह गुरुकुल से लौटे तो देवगण उस की अगुआई करें, तो उसे प्रत्यक्ष से परे परोक्ष विद्या के लिए आतुर होना चाहिए—"परोक्षप्रिया हि देवाः।" जब प्रत्यक्ष विद्या के लिए तप की आवश्यकता है तो परोक्ष ब्रह्मज्ञान के लिए उस से भी बढ कर तप की आवश्यकता है। मानसिक-तप बडा कठिन है परन्तु उतना ही अधिक बल देने वाला भी है। पृथिवी और द्यौ की अपरा विद्या, साधन मात्र होने से गौण है, उस से ऊपर परा विद्या मुख्य है क्योकि वह परमोद्देश्य तक पहुचा देती है। उस मुख्य विद्या की रक्षा ब्रह्मचारी तप से करता है।

तब वह ब्रह्म को जानता हुआ केवल उसी का ही रहता है। यही कैवल्य है। प्रसिद्ध लोकोक्ति अब तक चली आती है—'गुरु बिन ज्ञान न पावे भोला चेला'—गुरु के बिना ज्ञान नही और 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'—और ज्ञान के बिना अविद्या के बन्धनों से छूटना नहीं होता। इस लिये गुरु की आवश्यकता है। वह हमारे अन्दर है, बाहर है, उस से सारा ब्रह्माण्ड आच्छादित है; परन्तु जब तक हृदय के अन्दर उसे देख न लें तब तक समीप होते हुए भी हम सब उस से दूर हैं। इन्हीं दर्शनों के लिये गुरु की जरूरत है। उस प्रकाश स्वरूप की

झलक तो बिजली की चमक की तरह कभी न कभी मूढ़ पुरुष भी देखता है; परन्तु उस झलक के ओझल होने पर फिर से भूल जाता है। उस के दर्शन आचार्य की कृपा के बिना नही होते। परन्तु जब एक वार सचमुच दर्शन हो जावे और जीवात्मा 'अपने प्रभु को चीन्ह लेवे' तब वह उसी का हो रहता है। फिर आचार्य की सहायता की आवश्यकता नही रहती। प्रधान आचार्य की संरक्षता में जाकर साधारण आचार्य की क्या जरूरत है ? प्राणी तब उसी का हो रहता है।

उसी का हो रहने का मतलब क्या है ? क्या प्राणी की क्रिया बन्द हो जाती हैं ? क्या वह कर्म छोड देता है ? कर्म तो किसी अवस्था मे भी छूट नही सकते, हां कर्मफल को वह त्याग देता है। जिस का हो रहा है, सब कर्म उसी के अर्पण करता है। वह इस लिए कर्म नहीं करता कि उसे कर्म का फल मिलेगा। वह यह नहीं देखता कि उस के शरीर तथा उस की इन्द्रियों को उस कर्म से क्या लाभ होगा; कर्म करने के लिए उस के पास एक ही कसौटी है—'क्या उस कर्म से वह उस से दूर न हो जायगा ? जिस का वह हो रहा है'—निस्सन्देह जो कुछ भी उस के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल है वही कर्त्तव्य है, जो उस के प्रतिकूल है वही अकर्त्तव्य है। इसीलिए तो अपने शिष्य अर्जुन को कृष्ण भगवान् ने उपदेश दिया था—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं, बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं, गहना कर्मणो गतिः ॥

कर्म क्या है ? विपरीत कर्म क्या है ? और कर्म न करना क्या है ? यह जानना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति गहन है। बिना कर्म एक क्षण भी प्राणी जी नहीं सकता, और मुक्ति का आनन्द और परमात्मा की समीपता को भी बिना प्रयत्न के स्थिर नही रक्खा जा सकता। तब कर्म का सर्वथा त्याग तो हो ही नही सकता। फिर बचाव इसी में है कि वह उस का हो रहे जिस का स्वरूप ही पथदर्शक है और जिस की समीपता मनुष्य को 'अकर्म' और 'विकर्म' के दुखदायी मार्ग से अलग कर के कर्त्तव्य कर्मों का बोध सदा कराती रहे। ससार को ऐसे आचार्यों की आवश्यकता है, जो स्वय नित्य उस के सहवास मे रहते हुए अपने शिष्यो को उसी का बना देवे। इस पद के जो अधिकारी हैं उन के लिए ही ब्रह्मचारी कहलाना शोभा देता है, और जब ऐसे ब्रह्मचारियो की सख्या ससार मे बढ़ती है तभी ससार का कल्याण होता है।

शब्दार्थ

(**अर्वाक् अन्यः**) एक समीपवर्त्ती (**दिवः पृष्ठात् परः अन्यः**) द्युलोक के उपरले भाग से परे दूसरा (**ब्रह्मणस्य निधी गुहा निहितौ**) **ब्रह्मज्ञान के दो कोश (आचार्य के हृदय-रूपी**) गुफा में संगृहीत हैं। (**तौ ब्रह्मचारी तपसा रक्षति**)

उन दोनों की ब्रह्मचारी तप से रक्षा करता है और (ब्रह्म विद्वान् तत् केवल कृणुते) ब्रह्म को जानता हुआ उसकी केवल आराधना करता है।"

—

११

अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या
अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे ।
तयोः श्रयन्ते रश्मयोधि दृढ़ा
स्ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी ॥

अथर्व, काण्ड ११, अ० ३. सूक्त ५. ११।

मन्त्रसार

दो तेज हैं जो एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। एक पृथिवी की ओर जाता है और दूसरा उससे परे। एक प्रत्यक्ष प्राकृतिक जगत् पर प्रकाश डालता है और दूसरा परोक्ष आत्मिक जगत् पर। ये दोनों तेज बीच में ही एक दूसरे से मिल जाते हैं। इनको मध्य में मिलाने वाला कौन है ?—"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।" जिससे इस लोक तथा परलोक के सुख की सिद्धि होती है वह धर्म है। इसी धर्म ने दोनों तेजों को एकी-भूत किया है। जिससे अभ्युदय सिद्ध होता है वही निःश्रेयस

को भी प्राप्त करता है। दोनों धर्म में ही दृढ होते हैं। जिसने इस लोक के पदार्थों को यथावत् स्वरूप दिया, तृण से लेकर पृथिवी तक और पृथिवी से लेकर द्यु लोक पर्यन्त के दर्शन करा के मनुष्य को उनसे उपयोग लेने के योग्य बना दिया—वह पहली ज्योती, ज्ञान है। परन्तु अकेले इस ज्ञान से काम न चलेगा, यह ज्ञान तो मनुष्य को कर्म का मार्ग दिखाने वाला है। उपनिषद् ने कहा है कि मनुष्य क्रियाशील है। जैसे कर्म वह इस जन्म में करता है वैसी ही स्थिति उसे आगामी जन्म में मिलती है। ज्ञान की आवश्यकता कर्म के लिए है और ज्यों ज्यों मनुष्य कर्मशील होता जाता है त्यों त्यों उसका ज्ञान निश्चयात्मक होता जाता है। यही अवस्था है जब ज्ञाता ज्ञेय पदार्थ के विषय में रहस्य की बाते जानने लगता है अर्थात् उसके समीप पहुचता है।

वही ज्ञान मज कर विज्ञान की शकल मे दूसरी ओर चलता है। उस के आगे परलोक है, वहा ज्ञान नही पहुच सकता। उस उच्च पद की ओर दृष्टि उठाकर ज्ञान की पगड़ी गिर जाती है। तब मजा हुआ ज्ञान अति सूक्ष्म हो कर आगे चलता है, आत्मिक दर्शन उसी के द्वारा होते हैं। आत्मदर्शन होते ही सांसारिक पदार्थों पर भी नया प्रकाश पड़ता है। जो जो प्राकृतिक वस्तुएं केवल अपना बाह्य स्वरूप ही द्रष्टा को दिखलाती थीं, वे अपने अन्तरीय रहस्य भी उसके सामने खोल

कर रख देती है उसी समय दोनो ज्योतियों—ज्ञान और विज्ञान—का मेल होता है, उस मेल का नाम ही धर्म है, और उसी से जो सिद्धि होती है वह इस लोक और परलोक दोनों को अपने अन्दर समेट लेती है। उन दोनों का प्रकाश स्थिरता से दृढ़ हो जाता है। इस प्रकाश मे बुद्धि डावांडोल नही होती। परन्तु उस प्रकाश को एकरस दृढ़ रखना तप का काम है। ज्ञान और विज्ञान की किरणो का चक्र साधारण मनुष्य के हृदय पर भी अंकित हो जाता है। परन्तु वहाँ उसकी स्थिति बिना तप के नही हो सकती। इस तप को धारण करके ज्ञान और विज्ञान को उसके अन्दर स्थित करने की शक्ति ब्रह्मचारी में ही होती है। उन दोनों से ऊपर स्थित होना ब्रह्मचर्य व्रत और साधन की पराकाष्ठा है।

ज्ञान और विज्ञान दोनों की स्थिति का स्थान ब्रह्मचारी का विशाल और दृढ़ हृदय है। वह ज्ञान सार्थक नही, उलटा व्यक्तियों और जातियों को डुबाने वाला है, जिसका आधार ब्रह्मचर्य नही है। इसी वेद मन्त्र की आज्ञा को लक्ष्य मे रख-कर आचार्य, उपाध्याय और अध्यापक का ब्रह्मचारी होना आवश्यक बतलाया गया है। मानसिक शिक्षा चाहे कितनी भी ऊची हो संसार का कल्याण करने वाली नही होती यदि उसका फैलाने वाला ब्रह्मचारी नहीं। जिस देश और जिस समय में अब्रह्मचारी शिक्षक प्रधान हुए उस देश और उस समय में

शिक्षा मनुष्यों के लिए हानिकारक सिद्ध हुई। यूनान और रोम जिस समय रसातल को पहुंचे उस समय सांसारिक विद्या की उन में कमी न थी। स्पाटा में ३०० योद्धा सहस्त्रों को मुह मोड़ देने की शक्ति उसी समय मे रखते थे जब कि उस नगर में बालक और बालिकाए ब्रह्मचर्य का कठिन व्रत धारण किया करती थीं। राम के समय अयोध्या का जो वर्णन है, वह तभी सम्भव था जब कि राम, लक्ष्मण से राजपूत वसिष्ठ के आश्रम से ब्रह्मचर्य के नियम पालन को शिक्षा लेकर निकलते थे। दशरथ के समय की अयोध्या का वर्णन करते समय आदि कवि बाल्मीकि लिखते हैं—

> तस्मिन् पुरे वरे हृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः
> नरास्तुष्टाः धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः
> कामी वा न कदर्यो वा, नृशंसः पुरुषः क्वचित्।
> द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां, नाविद्वान्न च नास्तिकः॥

"इस श्रेष्ठ पुरी में सब लोग हृष्टपुष्ट, बहुश्रुत, रोगरहित, सत्यवादी और अपनी ही कमाई से सन्तुष्ट थे। कामी, कञ्जूस, खुशामदी, अविद्वान् वा नास्तिक कोई भी ऐसा पुरुष अयोध्या में दिखाई न देता था। रामायण के इस वर्णन को भले ही कोई पुरुष अत्युक्ति कहे, परन्तु जो चित्र राम, सीता और लक्ष्मण के ब्रह्मचर्य व्रत का कवि ने खींचा है उसका परिणाम इसी प्रकार की जनता हो सकती है। धन्य है वह देश जहां

ज्ञान और विज्ञान के ऊपर पग धर कर अपने बल से तपस्वी ब्रह्मचारी उनको संसार के कल्याण के लिए दृढ़ रख सकता है।

शब्दार्थ

(अग्नी इमे नभसी अन्तरा समेतः) दो अग्नि, इन दोनों एक दूसरे से मिले हुओं के अधः प्रदेश मे मिलती हैं—(अन्यः अर्वाक्) एक समीपवर्त्ती है। (अन्यः इतः पृथिव्याः) और दूसरी इस पृथिवी से दूर है (तया रश्मयः दृढा अधिश्रयन्ते) उन दोनों की किरणे दृढ़ हो कर अधिकार पूर्वक ठहरती हैं—(ब्रह्मचारी तपसा तान् आतिष्ठति) ब्रह्मचारी तप से उनके ऊपर बैठता है।

—

१२

अभिक्रन्दयम् स्तनयन्नरूणः,
शितिङ्गो बृहच्छेपोनुभूमौ जभार।
ब्रह्मचारी सिंचति सानौ रेतः पृथिव्यां।
तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥

अथर्व, काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५, १२॥

मन्त्रसार

पृथिवी के उन्नत स्थानों में ही उपजाऊ शक्ति है। वह

उपजाऊ शक्ति उनमें कैसे आई ? प्रलय समय में सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था में स्थिति रहती है। इस अवस्था का नाम ही प्रधान वा प्रकृति रहता है। प्रलय की समाप्ति पर जब सृष्टि का समय आता है तो रज से ही उसमें हल चल उत्पन्न होती है। रज क्रिया का उत्पत्ति स्थान है, अचल प्रकृति को वही चलायमान करता है और सत्य ज्ञान का उत्पत्ति स्थान है और वह उस क्रिया के कार्यों को समझने की शक्ति देता है। ज्ञान और क्रिया की उत्पत्ति ही सृष्टि की रचना के कारण हैं और इन्ही के तिरोभाव पर सृष्टि का अन्त होकर प्रलय होता है। ज्ञान ब्रह्म-धर्म है और क्रिया क्षात्र-धर्म है। इनकी उत्पत्ति ही जगत् बनने का साधन है। इनका उद्गम परमेश्वर से है और अन्त भी उसी में होते हैं—

"यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनं ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥"

श्वेत और रक्त वर्ण धारण किए अर्थात् ब्राह्म और क्षात्र (ज्ञान और क्रिया) का प्रसार करके नियन्ता का नियम ही "चारों ओर शब्द करता और गरजता हुआ भूमि के अन्दर उपजाऊ शक्ति" *लाता है*, अर्थात् उसको प्रकाशित करता है। *परमेश्वर के अनादि नियम द्वारा ही जब जब तीनों गुणों की* साम्यावस्था हिल कर सृष्टि रूप में आती है तब ही महत्तत्व से अकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, और

जल से निकल कर पृथिवी प्रकाशित होती है। उसके अन्दर उपजाऊ शक्ति पूर्ववत् ही रहती है, परन्तु भूमि के अन्दर उपजाऊ शक्ति रहते हुए भी जब तक उसको ठीक करके उत्तम बीज उसके अन्दर नहीं गल जाता तब तक उसमें से अन्न, औषधियां आदि उत्पन्न नहीं होते और जब अन्नादि उत्पन्न नहीं होते तो न रेत बन सकता है न वीर्य बन सकता है और न ही मनुष्य सृष्टि बढ़ा कर आगे के लिए सृष्टि क्रम को जारी रख सकता है। वह बीज जिसने पृथ्वी में गल कर मनुष्य रूपी रत्न उत्पन्न करने के लिए वीर्य की बुनियाद डाली, अर्थात् उत्तम अन्न आदि औषधियों को पैदा किया, पहले पहल वह बीज पृथ्वी में कैसे आया ? उस बीज की पृथ्वी में स्थापना करने वाला वह अनादि ब्रह्मचारी है जो सारी सृष्टि में व्यापक होते हुए भी आप इस से प्रभावित नहीं होता; जो सारी सृष्टि को चलायामान करता हुआ आप अचल है; जो ब्रह्माण्ड के अन्दर व्यापक होता हुआ भी उस ब्रह्माण्ड को बाहर से घेरे हुए है; जो रोम २ में रमते हुए भी स्थूल और सूक्ष्म दोनों इन्द्रियों के ज्ञान से परे है।

"तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥"

यजु० अध्याय ४० मन्त्र ५।

वह स्वयं अनादि किन्तु इस सृष्टि का आदि ब्रह्मचारी शिक्षा देता है कि जिस भूमि में उपजाऊ शक्ति है उसके अन्दर फल लाने वाला बीज स्थापना करने की शक्ति ब्रह्मचारी ही मे है। उत्तम से उत्तम उपजाऊ भूमि के अन्दर वही किसान ठीक बीज बो सकता है और उस से उचित फल भी प्राप्त कर सकता है जिस की इन्द्रियां अपने वश में हों। जो स्वार्थी, भोगी प्रत्येक समय प्रलोभनों में फंसा रहता है, प्रथम तो उस मे इतना सन्तोष ही नहीं कि वह बोने के लिए बीज बचा सके और फिर यदि बीज को खराब करके बो भी देवे तो उस में इतना साहस नही कि अन्तिम फल आने तक प्रतीक्षा करे, वह कच्चे फल ही तोड़ने लग जाता है और न तब अपने आपको सन्तुष्ट कर सकता है और न ही ससार को कुछ लाभ पहुंचाता है। ब्रह्मचारी ही में इतना बल है कि वह कर्म करता हुआ फल भोग की इच्छा को त्याग दे। यदि ब्रह्मचारी ने चारों दिशाओं में अन्न, वनस्पति, औषधि उत्पन्न कर के जीवात्माओं को सीधा मार्ग दिखला दिया है। यदि कोई मनुष्य जीवित रहना चाहता है, तो तभी रह सकता है जब कि वह सारे संसार के जीवन स्थिर रखने में भाग ले, यह शक्ति ब्रह्मचारी में ही आ सकती है। इस मन्त्र का अर्थ करते हुए सायणाचार्य को भी मानना पड़ा है कि ब्रह्मचारी ही राष्ट्र में सुकाल और वृष्टि का साधन है। वह बतलाता है—

'यस्मिन् राष्ट्रे ब्रह्मचारी निवसति तत्र कालवृष्टिर्भवतीति तात्पर्यार्थः ।'

वेद के टीकाकारों ने ब्रह्मचारी शब्द से मेघ का ग्रहण किया है। यह अर्थ अयुक्त नही है क्योंकि जिस मेघ को शक्तियां बिखरी हुई नही है, जिस मेघ ने एक प्रकार से संयम द्वारा सारे जल को एकत्रित कर लिया है और साथ ही जो सम भाव से वर्षा करता है वही भूमि की उपजाऊ शक्ति को बढाता है। परन्तु यहा ब्रह्मचारी से मतलब वह खेती करने वाला पुरुष है जिसके पुरुषार्थ पर ही मनुष्यों की जीवन यात्रा सम्भव है। जिस राष्ट्र मे ब्रह्मचारी कृषक है सचमुच उस राष्ट्र में अकाल वृष्टि कभी नहीं होती और इस लिए उसकी सारी प्रजा सुखी रहती है। जिस देश के कृषिकारों के अन्दर स्वार्थ-बुद्धि नही आती और वे कर्तव्य-परायणता के नियम पर ही खेती करते और अधिक से अधिक भूमि की उपज प्राप्त कर के जनता में फैलाते हैं, उस राष्ट्र मे कोई अन्य शक्ति भी उपद्रव नही कर सकती, क्यो कि भूमि-पति बनने का अधिकार उन्ही को है जो कि भूमि से रत्न निकालने का परिश्रम करे। इस लिये यदि भूमि-पति ब्रह्मचारी हो तो राष्ट्र की रक्षा मे क्या सन्देह है।

शब्दार्थ

(अभिक्रन्दयन्, स्तनयन्, शितिङ्गः, अरुणः) चारों ओर

शब्द करता गरजता हुआ श्वेत और रक्त वर्ण धारण किए (भूमौ बृहत् शेपः अनु जभार) वह, बड़ी उपजाऊ शक्ति भूमि में निरन्तर लाया है। (ब्रह्मचारी पृथिव्याम् सानौ रेतः सिंचति) ब्रह्मचारी पृथिवी के उन्नत स्थान मे बीज सींचता है (तेन चतस्रः प्रदिशः जीवन्ति) उसी से चारों प्रधान दिशाएं जीवन यापन करती हैं।

—

१३

अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन्,
ब्रह्मचार्याऽप्सु समिधमादधाति।
तासामर्चीषि पृथगभ्रे चरन्ति,
तासामाज्यं पुरुषो वर्ष आपः॥
अथर्व० काण्ड ११. अ० ३. सूक्त ५. १३।

मन्त्रसार

ब्रह्मचारी पहिले अग्नि में समिधा डालता है। 'अग्नेर्वा ऋग्वेदोऽजायत' अग्नि से ऋग्वेद हुआ। ऋच् स्तुतौ—ऋचा इस लिये कहते हैं कि उस वेद के मन्त्रों में तृण से लेकर पृथिवी पर्यन्त तथा पृथिवी से लेकर परमात्मा तक का साधारण ज्ञान दिया गया है। उस साधारण ज्ञानरूपी अग्नि को

पहिली समिधा से वह प्रदीप्त करता है। तब क्रमशः वह यजुर्वेद द्वारा, कर्मकाण्ड द्वारा प्रथम प्राप्त किए साधारण ज्ञान को कर्म में बदल कर, जाने हुए द्रव्यों के समीप होता है अर्थात् उन की उपासना करता है, जिस से उसे (विज्ञान) विशेष ज्ञान की प्राप्ति होती है। 'सूर्यात् सामवेदः' दूसरी समिधा से इस प्रकार ब्रह्मचारी विज्ञान रूपी सूर्य को प्रदीप्त करता है। तब तीसरी समिधा उस के अन्दर त्याग वा विनय का भाव उत्पन्न करने वाली शान्ति रूपी है, जो वह चन्द्र में छोड़ता है। उस से प्रभावित हो कर वह चन्द्रमा का गुण धारण करता है। तब चौथी दयारूपी समिधा की आहुति आकाशगामी पवन में देते ही वह ऊपर उठता है और वहा से पाँचवीं समिधा द्वारा जल धाराओं (मंगल कामनाओं) की शीतल वृष्टि कर के संसार को तृप्त करता है। यह अलंकार सीधा और स्पष्ट है।

ब्रह्मचारी की डाली हुई समिधा की आहुतियों से हिलाई हुई एक-एक शक्ति की किरणें अपनी-अपनी परिधि के अन्दर बलवती होकर ब्रह्मचारी के अन्दर इकट्ठी हो जाती हैं। जिस प्रकार सूर्य के उठाए हुए, विविध प्रकार के जलों के परमाणु सूर्य मण्डल में ही इकट्ठे होकर पृथिवी पर शीतल जल धारा छोड़ उसे तृप्त करते और उस से उत्तम अन्न औषधादि उत्पन्न करते हैं, इसी प्रकार ब्रह्मचारी की प्रदीप्त की हुई सब किरणें उसी में इकट्ठी हो कर संसार में आनन्द की लहरें चला देती हैं।

उस का प्रथम फल यह होता है कि पुष्टिकारक पदार्थों की कमी नहीं रहती। इस सचाई को इस समय भारतवर्ष में भली प्रकार अनुभव किया जा रहा है। पुष्टिकारक पदार्थ क्या है ? घी आदि जिन की उत्पत्ति दूध से होती है। परन्तु वह दूध शुद्ध अवस्था में अधिक परिणाम में उसी देश में उत्पन्न हो सकता है जहां ब्रह्मचारी निवास करते हों। भारत-वर्ष में दूध की नदियां बहती थीं, जब यहा जीवहिंसा का अभाव था। फिर जब शिकारी राजपुरुषों (राजपूतों) तक ही मांस भक्षण सीमित रहा तब तक भी लाभदायक पशुओं की हानि न हुई और दूध, घी से प्रजा पुष्ट होती रही। परन्तु ज्यों ही मांसाहारी, भोगी विदेशियों के चरण यहां आए और इन्होंने भारत प्रजा के शरीरों को ही नही वरन् उन की बुद्धियों को भी दास बनाना शुरु किया, तब से ही क्रमशः यहाँ से दूध, घी का ह्रास होना आरम्भ हो गया, यहा तक कि आज बच्चो को भी दूध नही मिलता। यहां तक ही नही, प्रत्युत भोगप्रधान जीवन बन जाने से माताओं ने अपने विषय भोग के गहरे प्रमोद में फसकर अपनी सन्तान को अपने स्तनों के अमृत रूपी दुग्ध से भी वंचित कर दिया। जब आत्मा को पुष्ट करने वाला सात्विक भोजन नहीं रहा, तो फिर उत्तम सन्तान की उत्पत्ति कहां से हो सकती। भारत प्रजा की सन्तान पर एक दृष्टि डालने से ही पता लग जाता है कि ब्रह्मचर्य के अभाव

ने उस की क्या दुर्दशा कर दी है। बालक दूध के लिए तड़प रहे हैं और माता उन के दुःख से दुखी हो रही है; परन्तु सहस्रों गायें नित्य नरपिशाचों की उदर पूर्ति के लिए कट रही हैं। यह पिशाचलीला इस लिए देखने मे आती है क्योकि कामचेष्टा ने संसार को अन्धा कर दिया है।

फिर जब सृष्टि पुरुषहीन हो रही हो, जब 'मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति' की उक्ति चरितार्थ हो रही हो, तो वृष्टि कहां से आवे और वर्षा के बिना जलाशय कहा से भरे? और जब जलाशय सर्वथा सूख चुके हों तो ससार के अन्दर स्नेह और प्रेम का जल हृदय रूपी वृक्षों को कैसे सींच सके। जिस पुष्टि-कारक वीर्य से पुरुष की उत्पत्ति होती है जब उस का स्रोत ही ब्रह्मचर्य है तो फिर ब्रह्मचर्य के बिना यदि आज कल की सभ्यता विचारशील पुरुषों की दृष्टि मे निर्जीव दिखाई दे तो क्या आश्चर्य है? इस अंश मे आज संसार की दशा कैसी शोचनीय है। जहां एक ओर अनावृष्टि सताती है तो दूसरी ओर वर्षा के आरम्भ होने पर अतिवृष्टि का भय रहता है। मनुष्य के मनुष्यरूप धारण किये हुए होने पर भी पशुओं से भी नीचतर व्यवहार देखने में आते हैं। सभ्यता के सब अङ्गों के अन्दर से पीप और लहू बह रहा है, परन्तु उस के ऊपर बनावटी प्लास्तर कर के उस को छिपाया जा रहा है। जहां घर के अन्दर हाहाकार मच रहा है, वहां चिकनी चुपड़ी सूरतें

दिखला कर संसार को भ्रम में डाला जा रहा है धर्म और ब्रह्मचर्य के बिना संसार की वही दशा हो रही है। जो मर्यादा पुरुषोत्तम राम के बिना सकल-समृद्धि-सम्पन्न अयोध्या की हो रही थी। इसी अवस्था को देख कर कवि गोसाईं तुलसी दास की उक्ति को इस प्रकार परिवर्तित किया जा सकता है—

जिमि भानु बिन दिन, प्राण बिन तन,
चन्द्र बिन् जिमि यामिनी ।
तिमि ब्रह्मचर्य प्रकास,गुरुकुलवास बिनु,
सब सभ्यता है भयावनी ॥

शब्दार्थ

(ब्रह्मचारी अग्नौ, सूर्ये, चन्द्रमसि, मातरिश्वन्, अप्सु, समिधम् आदधाति) ब्रह्मचारी अग्नि में, सूर्य में, चन्द्रमा में, आकाशगामी पवन में, जल धाराओं में समिधा को सब प्रकार से डालता है। (तासाम् अर्चींषि पृथक् अभ्रे चरन्ति) उनकी किरणें जुदी-जुदी मेघ मण्डल में चलती हैं और (तासाम् आज्यम् पुरुषः वर्ष आपः) इन से श्री, पुरुष, वृष्टि और सब जलाशय हैं।

—

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः ।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम् ॥
अथर्व, काण्ड ११ अ० ३, सूक्त ५, १४ ।

मंत्र सार

आचार्य मृत्यु रूप हो कर ब्रह्मचारी को पहिला उपदेश देता है । कठोपनिषद् में यम (मृत्यु) और नचिकेता के सम्वाद द्वारा जिज्ञासु को पराविद्या का उपदेश बड़ी उत्तम विधि से दिया है । सच पूछा जाए तो कठोपनिषद् को 'आचार्यः मृत्युः' इतने वाक्य की ही व्याख्या कह सकते हैं । इस रहस्य को सायणाचार्य तक ने अनुभव किया है । तभी तो उन्होंने अपने भाष्य में किया है—' यो मृत्युर्यमः स नचिकेतसे ब्रह्मविद्यामुपदिश्य आचार्यः संपन्नः । '

पहिला उपदेश आचार्य का ब्रह्मचारी के प्रति वह होता है जिस से शिष्य निर्भय हो जाय । ' अभिनिवेश ' बड़ा भारी क्लेश है । मौत का डर ही मनुष्य को तप और कर्तव्यपरायणता से रोकता है । उस डर को आचार्य पहिले दूर करता है । मन, वाणी और कर्म से जन्म को प्रकृति से आत्मा का योग और मृत्यु को उनका परस्पर वियोग दिखला कर पहिले, शिष्य को निर्भय करता है । बुद्धदेव के जीवन में 'मार' की और ईसामसीह के जीवन में ' शैतान के बहकाने ' की

कहानी इसी कठोक्त रूपक का विस्तार है ।

आचार्य जीवन और मृत्यु के रहस्यों को खोल कर शिष्यों के सामने रख देता है । जो स्वयम् मौत के डर से कांपता है वह इस रहस्य की घुण्डी कैसे खोल सकेगा ? इसी प्रथम वयस को लक्ष्य में रखकर कवि ने कहा है—'दशवर्षाणि ताडयेत् ।' पहिली ताड़ना से शिष्य के अन्दर असार वस्तुओं के प्रति पूरा वैराग्य उत्पन्न कर के, और अभ्यास से पुष्ट करा के आचार्य जल रूप होकर उसके पापों को धो डालता है । उसी बाह्य मैल को धोने के लिए महामुनि पातञ्जलि ने तप, स्वाध्याय और परमात्मा पर पूर्ण विश्वास को क्रियायोग रूपी मुख्य साधन बतलाया है—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ।

योग सूत्र २. १ ।

जब स्थूल पाप धुल जाए, तब जिज्ञासु ब्रह्मचारी को सूक्ष्म मानसिक विकारों का ज्ञान होता है और उसके अन्दर अनुताप की लहर चलती है, हृदय व्याकुल हो जाता है । उस समय सच्चा आचार्य चन्द्रमा रूप हो कर ब्रह्मचारी की उदासीनता को आशा में बदल देता है । तब शिष्य के अन्दर आह्लाद भर जाता है । उस आह्लाद की अवस्था में शरीर की सुध नहीं रहती, क्षति की उसमें भी सम्भावना है । उस विकट दशा को टालने के लिए आचार्य औषध रूप हो कर ब्रह्मचारी की वृद्धि

में सहायक होता है। भोजन छादन, रहन सहन की विधि बतला कर आचार्य ब्रह्मचारी के शरीर को भी वज्र के तुल्य कर देता है। इसी वेद मे अन्यत्र आया है कि जब शिष्य गुरु के समीप समित्पाणि हो कर जावे तो पहली भिक्षा यह मांगे— 'मेरा शरीर चट्टान की तरह दृढ हो जावे'। इस के लिए ऊपर कहा है कि दुग्ध रूप हो कर आचार्य अपने शिष्य ब्रह्मचारी के शरीर को पुष्ट करता है। यह सब कुछ आचार्य क्यों कर सकता है? इस लिये कि जीवन के नियमो को उसने सिद्ध कर छोड़ा है। जिस कलाधर के अन्दर से, ठीक क्रिया कर के वह ब्रह्मचारी को सुडौल शरीर, इन्द्रिया, मन और आत्मा का स्वामी बना कर निकालना चाहता है उसमे स्वयम् भी गुजर कर आया है। इस लिये तो संसार के बुद्धिमान् समझने लग गए हैं कि राजा के अयोग्य होने पर इतनी हानि की सम्भावना नही है जितनी आचार्य की अयोग्यता राष्ट्र को हानि पहुचा सकती है। 'यथा राजा तथा प्रजा' यह लोकोक्ति तो प्रसिद्ध है ही। परन्तु राजा का इतना प्रभाव प्रजा पर नही पड़ता जितना आचार्य का शिष्य पर पड़ता है।

इस लिए जहां आचार्य और ब्रह्मचारी आदर्श हों, वहां ही मोक्ष सुख की प्राप्ति हो सकती है। वह आनन्द जिस के मध्य में दुःख काल कभी न आवे, तभी फैल सकता है—जब कि उत्तम आचार्य शिक्षा देने के लिए मौजूद हों।

संसार मे इस समय घोर अशान्ति क्यों फैल रही है ? इसलिए कि आचार्यों का अभाव है। टीचर है, प्रोफेसर हैं, प्रिन्सिपल हैं, उपाध्याय है, उस्ताद मौलवी हैं—परन्तु शिक्षा शिष्यों को उल्टा अविद्या के गढे मे धकेल रही है। जो स्वयं भोगी हैं वे दूसरों को त्याग कैसे सिखलाएगे? जो स्वयम् पापों के गन्दे कीचड़ में फसे हुए हैं वे सुकुमार शिष्यों को शुद्धि का पाठ कैसे पढ़ायेंगे ? जो स्वार्थान्ध हैं वे दूसरों को निःस्वार्थ तपस्वी कैसे बनायेंगे ? फारसी के शायर ने आजकल के शिक्षकों के ही विषय मे कहा है 'ऊखे श्तन् गुमस्त किरा रह बरी कुद', वह आप गुमराह है। मार्ग भूला है तो दूसरों का पथदर्शक कैसे बनेगा ? 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' यदि अन्धा अन्धे को लेकर मार्ग पर चले तो अपने साथ उसको भी गढ़े मे गिरायेगा।

ईश्वरीय ज्ञान फिर सावधान कर रहा है। क्या संसार के शिक्षक-वृन्द इस पवित्र घोषणा को सुनेंगे ? परमेश्वर ऐसा करे कि जो लोग सुकुमारों के भविष्य को अपने हाथ मे लेने का साहस करते हैं, वे अपनी पवित्र उत्तरदायिता को समझें।

शब्दार्थ

(आचार्यः मृत्युः, वरुणः, सोमः, ओषधयः,पयः) आचार्य मृत्यु रूप होकर संसार की असारता का उपदेश देने वाला जल रूप होकर पापों से शुद्ध करने वाला, चन्द्रमा रूप होकर

हृदय के लिये आह्लादकारक, औषध रूप होकर शरीर को क्षीणता से बचाने वाला और दूध रूप होकर शरीर को पुष्ट करने वाला है। (जीमूता सत्वान आसन्) जीवन के नियमो का पुज उसके सहनशील अनुचर हैं, (तै इदम् स्व आभृतम्) उन्ही के द्वारा यह मोक्षसुख लाया गया है।

—

१५

अमा घृत कृणुते केवलमाचार्यो
भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ।
तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत्,
स्वान् मित्रो अध्यात्मन ॥
अथर्व, काण्ड ११ अ० ३ सूक्त ५, १५॥

मंत्र सार

आचार्य बनने के लिए आवश्यक है कि वह श्रेष्ठ गुणो को धारण करने वाला हो। वरुण पवित्रता प्रदान करन वाला हो, स्थान स्थान पर वेद म वर्णित है। स्वय पवित्र हो कर दूसरे अपवित्रो को जो पवित्र कर सक वही 'वरुण देव' अर्थात् सदाचारी विद्वान् है। एसा पुरुष जब वेद के पूर्ण आदेशानुसार, बालको का उपनयन करता और उन्हे ब्रह्मचारी बना कर

सावित्री माता के गर्भ में स्थित करता है तब पितारूप होकर रक्षा करते हुए उसे इसी घर मे (अर्थात् आचार्य वा गुरु के कुल में) पवित्र कर देता है । आचार्य चुनते समय प्राचीनकाल में जिस मर्यादा का अवलम्बन किया जाता था उसकी ओर आज ध्यान भी नहीं दिया जाता । किसी कालिज का प्रिन्सिपल नियत करते हुए यह नही देखा जाता कि वह दुराचारी तो नहीं है ? फिर यह कौन देखे कि वह अपने शिष्यो के हृदय और आत्मा को शुद्ध करने की शक्ति भी रखता है वा नही । आज कल के आचार्य मांस खाने और मद्य पीने वाले हो सकते हैं, ईर्षा, द्वेष मे फस कर विद्यार्थियों के साथ अनृत व्यवहार करने वाले हो सकते हैं, यहा तक कि व्यभिचारी होने पर भी उन्हें कोई शक्ति प्रिन्सिपल के पद से नही गिरा सकती । जब तक वे विद्यार्थियों को अपना विषय पढ़ाते जाय (चाहे किसी प्रकार से हो) और जब तक साधारण प्रबन्ध कालिज का कर सकें तब तक उनकी ओर आख उठा कर भी कोई देख नहीं सकता । परन्तु सार्वभौम सचाई यह है कि जो स्वयं अन्दर से अशुद्ध है वह दूसरो को शुद्ध कभी नही कर सकता ।

जब वेद वर्णित आचार्य ब्रह्मचारी के शरीर, अन्त: करण और आत्मा को शुद्ध कर देता है तब उस से गुरुदक्षिणा की आशा बांधता है । इसी के विषय में उपनिषद् का प्रसिद्ध वाक्य है जिस से आचार्य स्नातकों को दीक्षा देता है—' आचा-

र्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सीः' आचार्य के लिये प्रिय धन देकर विवाह पूर्वक सन्तानोत्पत्ति कर। आचार्य का प्रिय धन क्या है ? ब्रह्मचारी से वह यही याचना करना है कि जिस प्रकार मैने तुझे कायिक, वाचि और मानसिक शुद्धता से विद्यादान देकर पवित्र किया है इसी प्रकार तू जहां दूसरो को इसी विद्या का दान देकर पवित्र कर, वहा प्राप्त की हुई शिक्षा को भी अपने आचरण मे ला। दीक्षान्त सस्कार के समय इसी प्रकार की प्रतिज्ञाएं ब्रह्मचारी करता है। इनके अतिरिक्त आर्थिक सेवा भी वह आचार्य की करता है। आचार्य ब्राह्मण ही हो सकता है। यह ब्राह्मण मनुष्य समाज मे ऐसा ही है जेसा शरीर में शिरोभाग शिखा से ग्रीवा तक। जैसे प्राकृतिक भोजन सारे शरीर मे पहुचा कर मुख अपने लिए कुछ नही रखता, इसी प्रकार आचार्य को भी अपने लिए किसी भी आर्थिक सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं है। परन्तु जैसे अपने लिए कुछ भी अपेक्षा न रखते हुए मुख सारे शरीर के लिए अन्न फलादि की याचना करता है, इसी प्रकार आचार्य को अपनी आध्यात्मिक सन्तान के पालन पोषणार्थ प्राकृतिक सम्पत्ति की आवश्यकता है। पुरानी कई कथाएं प्रसिद्ध है, जिन मे आचार्यों ने स्नातकों से गुरुदक्षिणा में करोड़ों रुपये मांगे हैं और स्नातकों ने निर्धन होते हुए भी घोर तप द्वारा भिक्षा कर के गुरु की आज्ञा का पालन किया है।

आचार्य को इस धन की क्यों आवश्यकता है ? इस लिए कि सारे कुल के पालन पोषण तथा पठन पाठन का बोझ उसी पर है। पूर्व काल में आचार्य सञ्ज्ञा ही उस की थी जो दस सहस्र शिष्यों का पालन कर सके।

तब अन्तेवासी ब्रह्मचारी का विद्याव्रत स्नातक होने के पीछे कर्तव्य है कि वह आचार्य को उस का प्रिय धन (प्राकृतिक वा मानसिक) अर्पण करने के पश्चात् सन्तानोत्पत्ति के लिये विवाह करे। सांसारिक पिता का जो पितृ ऋण है उस से मुक्त होने का यत्न करने से पहिले शरीर, मन और आत्मा तीनों की रक्षा करने वाले आत्मिक पिता-आचार्य के ऋषि ऋण से मुक्त हो लेना आवश्यक है। जिस कुल मे अपने शरीर, मन और आत्मा को शुद्ध किया, उस कुल का जीवन बढ़ाने मे जितनी भी सहायता हो सके, करना कुल-पुत्र का धर्म है। यदि वेद मर्यादा के अनुसार आचार्य ब्रह्मचारियों की सर्व शुद्धि में लगे रहें और ब्रह्मचारी शुद्ध भाव से जहाँ मन, वचन और कर्म में कभी अशुद्धि आने न दें, वहां अपने गुरुकुल का गौरव स्थिर रखने में सहायक हों और साथ ही उस कुल के कोष की पूर्ति करना अपना कर्तव्य समझें तो यह देव निर्मित भूमि फिर से आदर्श बन कर ससार की जातियों का उद्धार करने में सफल हो सके।

शब्दार्थ

(वरुण. आचार्यो भूत्वा) श्रेष्ठ सदाचारी आप्त पुरुष आचार्य हो कर (अमा घृत केवलं कृणुते) शिष्य को इस घर में ही क्षरणशील जल के समान शुद्ध कर देता है। (मित्रः ब्रह्मचारी यत् यत् प्रजापतौ ऐच्छत्) स्नेही ब्रह्मचारी जिस-जिस वस्तु की प्रजापालक आचार्य के लिए अभिलाषा करता है (तत् आत्मनः अधिस्वान् प्रायच्छत्) उन पदार्थों व गुणों को वह ब्रह्मचारी अपने आत्मा में से आचार्य के लिये भेंट करता है।

—

१६

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रो भवद् वशी ॥
अथर्व० काण्ड ११. अ० ३. सूक्त ५. १६ ।

मंत्रसार

आचार्य पद के योग्य ब्रह्मचारी होता है। ऋषि दयानन्द इसी आशय को लेकर संस्कारविधि में लिखते हैं 'आचार्य उस को कहते हैं कि जो साङ्गोपाङ्ग (अङ्गों-शिक्षा कल्पादि और उपाङ्गों–न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग,मीमांसा, वेदान्तसहित) **वेदों के शब्द अर्थ सम्बन्ध और क्रिया का जानने हारा, छल कपट रहित, अति प्रेम से सब को विद्या का दाता, परोपकारी,**

तन, मन और धन से सब को सुख बढ़ाने में तत्पर हो, जो पक्ष-पात किसी का न करे और सत्योपदेष्टा, सब का हितैषी, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय होवे।' आचार्य के पास शिष्य किस उद्देश्य से जाता है ? इस का वर्णन यजुर्वेद के २६ वें अध्याय के मन्त्र ४६ मे किया गया है—

ऋजीते परि वृङ्धि नोऽश्मा भवतु नस्तनूः ।
सोमो अधि ब्रवीतु नोऽदितिः शर्म यच्छतु ।।

हे आचार्य ! अपने तेज से हमारे (शारीरिक तथा मानसिक) रोगों को सब ओर से दूर कीजिए, हमारा शरीर चट्टान की न्याई दृढ़ हो; अमृत और मृत्यु का हमे उपदेश कीजिए और हमारे लिए सुख का विधान कीजिए (अर्थात् मौत से छुड़ा कर अमृतपान कराइए) । जिस मे ऊपर कहे गुण निवास करते हों, जो सहज में ही उपरोक्त गुणों को धारण करने वाला हो, वही पुरुष आचार्य होने के योग्य है। जिस का अपना शरीर वज्र के तुल्य नहीं, वह दूसरों का शरीर दृढ कैसे कर सकेगा । जिस को स्वयं जिन्दगी और मौत का ज्ञान नहीं, वह दूसरों को अमृत कैसे पिला सकेगा ।

इसीलिए यहां अन्तिम बल इस बात पर दिया है कि अब्रह्मचारी पुरुष वा स्त्री कभी भी आचार्य के पवित्र आसन पर न बैठाए जायें । मक्कारी से जनता को धोखा देकर यदि कोई अब्रह्मचारी आचार्य बन भी जाय तब भी उस के प्रयत्न

का परिणाम उस के वास्तविक रूप को प्रकाशित कर देता है। वृक्ष अपने फल से पहिचाना जाता है। जिस गुरु के चेले तप के जीवन में न ठहर सके और स्वार्थ तथा भोग से न बच सके, उस को ब्रह्मचारी न समझना चाहिए।

जहां आचार्य पूर्ण ब्रह्मचारी हो वहां प्रजा का रक्षक राजा भी अवश्य ब्रह्मचारी ही होगा। एक सत्तात्मक राज्य वा प्रजातन्त्र राज्य दोनों में शासक ब्रह्मचारी ही होने चाहिएं। राजा वा प्रधान पुरुष से लेकर चपरासी और चौकीदार तक सब प्रजा को रक्षा के लिए नियुक्त होते हैं। यदि प्रजा के 'जान और माल की हिफ़ाजत' वे नहीं करते तो उन्हें प्रजापति नहीं कह सकते। परन्तु क्यों ब्रह्मचारी ही प्रजापति बनने के योग्य हैं ? इस लिए कि उसे राष्ट्र से ऊंचा उठना पड़ता है। रक्षक वही हो सकता है जो अपने से रक्षित प्रजा से ऊंचा उठा हुआ है। निर्बलों को सहायता वही कर सकता है जो स्वयम् सबल हो, अन्यथा अन्धे को अन्धा गढ़े में ही गिरा देगा।

जब शासक प्रजा से ऊपर उठा हुआ हो तभी वह सारे ऐश्वर्य का मालिक होता है। जो कामनाओं का दास है, सम्पत्ति का मालिक वह नहीं बन सकता। जो सम्पत्ति के पीछे स्वार्थ के मद से अन्धा होकर दौड़ता है उससे सम्पत्ति कोसों दूर भागती है। परन्तु जो सम्पत्ति को लात मार कर

ऊपर उठता है उसके पीछे सम्पत्ति भागी फिरती है। मुनिवर पतञ्जलि के शब्दों में 'अस्तेयप्रतिष्ठाया सर्वरत्नोपस्थानम्' जो दूसरों के पदार्थ पर दृष्टि नहीं रखता उसकी सारी दौलत हाथ बांधे खड़ी रहती है। गुसाईं तुलसीदास ने ठीक कहा है—

जिमि सरिता सागर पह जाही, जद्यपि ताहि कामना नाही।
तिमि सुख सम्पति बिन ही बुलाए, धर्मशील पहि जाहि सुभाए॥

अपने अन्दर के पशु-भाव पर विजय प्राप्त करके ही स्वर्गप्राप्ति हो सकती है। मर कर स्वर्गप्राप्ति की लोकोक्ति के यही अर्थ हैं।

शासक वही हो सकता है जो तप और सत्य के प्रभाव से साधारण प्रजा से ऊपर उठ जाये। तभी उस के वश में सारी प्रजा हो सकती है। इसी वेदाज्ञा का प्रभाव था कि भारतवर्ष में राजा के बेटे को राजगद्दी देने से पहले आचार्य-कुल में रक्खा जाता था। एक दृष्टान्त से इस वेद मन्त्र का भाव उत्तम रीति से स्पष्ट है। एक युवराज का गुरुकुल निवास का समय समाप्ति पर आया तो उसका पिता (राजा) उसे घर लाने के लिये आचार्य कुल में सजे हुए घोड़े सहित गया। दीक्षान्त की सारी विधि पूरी होने पर आचार्य ने राजा से कहा कि अन्तिम एक शिक्षा बाकी है, उसके पूरा होते ही राजकुमार को उनके हवाले कर दिया जायेगा। यह कह कर आचार्य कोड़ा हाथ में ले कर घोड़े पर चढ़ गया और राज-

कुमार को साथ भागने की आज्ञा दी। आज्ञापालक शिष्य साथ चल दिया। गुरु ने घोड़े को बहुत तेज कर दिया और जब राजकुमार पीछे रहने लगा तो उस के कोड़े जमाता गया। राजा की आंखें क्रोध से लाल हो गयी। चक्कर काट कर गुरु ने राजकुमार को पिता के चरण छूने की आज्ञा दी और राजा को सम्बोधन कर के कहा 'राजन्! शायद कल ही इस मेरे शिष्य को राजगद्दी मिल जाय और वह लाखों के जान और माल का रक्षक बने। तब अन्याय और अत्याचार से बचने के लिये इसे आज की शिक्षा काम आयेगी, क्योंकि इसने समझ लिया है कि पराधीनता और दासता में कितना कष्ट है।' राजा सन्तुष्ट हो कर राजकुमार को घर ले गया। संसार इस समय नरक कुण्ड इसी लिए बना हुआ है कि प्रजा के रक्षक ब्रह्मचारी नहीं हैं।

शब्दार्थ

(आचार्यो ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी आचार्य होता है, (ब्रह्मचारी प्रजापतिः) ब्रह्मचारी ही प्रजापालक राजा होता है। (प्रजापतिः विराजति) राजा प्रजापति हो कर विविध प्रकार से राज्य करता है, राष्ट्र से ऊपर उठता है। (विराट् इन्द्रो भवद् वशी) ऊंचा उठ कर प्रजा को वश में कर मालिक होता है।

—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ।।
अथर्व, काण्ड ११ अ० ३ सूक्त ५,१७ ।।

मन्त्रसार

रक्षा का काम तपस्वी कर सकता है, भोगी नहीं और तप ब्रह्मचर्य के बिना असम्भव है । राजा का धर्म ही राष्ट्र का पालन है । आज कल राजा का अधिकार राजशासन है । इस समय अधिकारों की धूम है इस लिए कर्त्तव्य पीछे पड गया है । वेद की आज्ञा है कि कर्त्तव्य पालन ही जीवन का मूल है । राजा को प्रजापति इसी लिए कहते हे कि प्रजा का पालन उसका धर्म है ! 'The King can do no wrong' राजा कोई अधर्म नही कर सकता—इस वाक्य का अर्थ क्या है ? क्या इसका अर्थ यह है कि राजा जो भी पाप चाहे करे, वह दण्डनीय नहीं है । ऐसा नही है । इङ्गलैण्ड के जिन देश-हितैषियों ने प्रथम चार्लस को फांसी लगा दी,क्या वे अन्यायी थे ? कदापि नहीं । इस लोकोक्ति के अर्थ यह हे कि जो अधर्म कर सकता है वह राजा होने योग्य नही है। जो स्वार्थी है, भोगी है, वह अधर्म से नही बच सकता, अधर्म से बचने के लिए पूर्ण ब्रह्मचारी होना जरूरी है ।

वेद उदाहरण देता है कि आचार्य ब्रह्मचर्य के बल से ही ।

शिष्य को अपनी ओर खींचता है और उसका पालन पोषण तथा शिक्षण करता है। पहले बतलाया जा चुका है कि पूर्व काल में आचार्य उसी को कहते थे जो दस सहस्र शिष्यों का पालन पोषण करता हुआ, उनकी शिक्षा का प्रबन्ध करे। जिस प्रकार आचार्य ब्रह्मचर्य के तप से ही ब्रह्मचारी को आकर्षित करके अपने अधीन करता है इसी प्रकार राजा भी ब्रह्मचर्य के तप से ही प्रजा को अपनी ओर खींचता और उसकी रक्षा करते हुए उन्हें अपने वश में रख सकता है।

आज उलटी गंगा बह रही है। राजा भोग के लिए राज्य संभालते हैं। जहा एक सत्तात्मक राज्य है वहां एक भोगी की तृष्णा को सन्तुष्ट करना पड़ता है। जहां प्रजातन्त्र राज्य कहा जाता है वहा बहुतो की विषय कामना को तुष्टि देनी पड़ती है। कही व्यक्ति का स्वार्थ ससार में हाहाकार मचा रहा है। इस अनाचार तथा अधर्म की जड़ जब तक न खुद जाय तब तक ससार में शासन और राजनीति के नाम पर अन्याय और अत्याचार होते ही रहेगे। इस अधर्म की जड़ कैसे कटे ?

बचपन में जैसी शिक्षा मिलती है मनुष्य युवा हो कर वैसा ही बन जाता है। यदि अध्यापक और उपाध्याय ब्रह्मचारी हों, यदि उनकी इन्द्रियां अपने वश में हों, यदि वे सब प्रकार की फसावटों से मुक्त हों तो उनके दिन रात के सहवास का असर उनके शिष्यों पर भी अवश्य पड़े और तब उन आचार्य-कुलों से

शासक भी योग्य निकल सकें।

जिस देश और जाति मे शिक्षक स्वयं चरित्रवान् न हों, उसकी दशा कभी सुधर नहीं सकती। जो दिया स्वयम् जल नहीं रहा वह दूसरों को क्या जलायेगा। जिसका हृदय स्वयं अन्धकार से आच्छादित है वह दूसरों को प्रकाश कैसे दिखलायेगा। कहते हैं कि 'मशालची अन्धा होता है परन्तु दूसरों को मार्ग दिखा देता है', परन्तु जहां गढा आगे हो तो उसके गढ़े में गिरते ही उसके हाथ की मशाल बुझ जाती है और उसके पीछे चलने वाले उसी गढे मे गिर पड़ते हैं। यही हाल उन शिक्षकों के अभागे शिष्यों का है, जो चरित्र-शास्त्रों की शिक्षा देते हुए स्वय उसके विरुद्ध आचरण करते हैं। ऐसे शिक्षकों के नियन्त्रण से निकल कर जो राजकीय पुरुष शासन के काम में लगते हैं उन से रक्षा के स्थान में राज्य को हानि हो होती है। पिता पालक को कहते हैं। राजा प्रजा का पालक, रक्षक होने से ही प्रजा का पिता कहलाता है। यदि पिता ही मद्यमाँस का सेवन करने वाला और व्यभिचारी हो तो सन्तान का क्या ठिकाना रहे। राजा सारी प्रजा का पिता है। यदि वह व्यभिचारी हो तो धर्म का नाश ही हो जाय। क्योंकि अपनी धर्मपत्नी से सन्तानोत्पत्ति करने के अतिरिक्त जिस किसी अन्य स्त्री से वह सम्बन्ध जोड़ता है, हालांकि वह उसकी पुत्री के समान है। सारे ससार में इस प्रकार की वर्णसकरता का राज्य

हो रहा है। इस घोर अधर्म भ्रान्ति की जड़ जब तक न हिलेगी तब तक संसार में शान्ति नहीं फैल सकती है। हिलना ही पर्याप्त नही है, स्थिर शान्ति के लिए इस की जड़ ही कट जानी चाहिए। परन्तु जड़ कैसे कटे ?

आओ, भारतवर्ष से ही पहल करो। स्वार्थी भोगी गवर्नमेन्टों से कुछ न होगा। जो आवश्यकता को अनुभव करते हों और शिक्षा देने की योग्यता रखते हो, वे साधनों द्वारा स्वय ब्रह्मचारी बनें और ब्रह्मचर्य रूपी तप के बल से विद्यार्थियों को अपनी ओर आकर्षित करें। जब ग्राम-ग्राम मे ऐसे साधन-सम्पन्न शिक्षक काम करने लग जायेंगे तो पूर्वकाल मे ब्रह्मचर्य-प्रधान यह जाति ही ससार की जातियों की पथदर्शक बन सकेगी।

शब्दार्थ

(ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य के तप से (राजा राष्ट्रं विरक्षति) राजा राष्ट्र की विशेष रक्षा करता है। (आचार्यो ब्रह्मचर्येण) आचार्य भी ब्रह्मचर्य से ही (ब्रह्मचारिणमिच्छते) ब्रह्मचारी की इच्छा करता है।

—

१८

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ।।

अथर्व, काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५, १८ ।

मंत्रसार

पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध वेद ने केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये बतलाया है । जिस प्रकार अन्य इन्द्रिया उचित उपयोग लेने पर ही बलवती रहती हैं और अपने विषय में फंसकर दासता को प्राप्त होती हैं, इसी प्रकार जननेन्द्रिय को भी स्वादेन्द्रिय बना लिया जाय तो वह भी नष्ट भ्रष्ट हो जाती है । प्रत्येक इन्द्रिय से तभी काम लेने में कल्याण है जब कि वह पुष्ट हो कर उस बोझ के उठाने योग्य हो जाय जो उस पर डाला जाता है । तब कौन पुरुष सन्तानोत्पत्ति करने का अधिकारी है? वही जिसने कम से कम २५ वर्ष की आयु तक वीर्य रक्षा कर के उसे पुष्ट कर लिया हो और इस प्रकार जननेन्द्रिय को वशीभूत कर लिया हो । परन्तु यदि उसे पत्नी योग्य न मिले तो वह उत्तम सन्तान कैसे पैदा कर सकेगा । बीज कैसा ही उत्तम हो, उसके अन्दर कितनी ही उपजने की शक्ति क्यों न हो–यदि भूमि ऊसर है, यदि भूमि में जल नहीं है तो बीज निष्फल जाएगा । उत्तम बीज के लिये दृढ़, स्वस्थ उपजाऊ भूमि होनी चाहिए, तब वनस्पति रूपी सन्तान उत्तम

हर्षदायक उत्पन्न होगी। इस लिए जहां पुरुष के ब्रह्मचारी होने की आवश्यकता है, जहां समावर्तन पूर्वक गुरुकुल से लौटा हुआ ब्रह्मचारी ही विवाह का पात्र है, वहां ऐश्वर्यवान् इन्द्र को पाने,विवाह करने का अधिकार भी ब्रह्मचारिणी को ही प्राप्त है। अथर्ववेद में उत्तम विवाह 'सूर्या' अर्थात् आदित्या ब्रह्मचारिणी का ही लिखा है। ब्रह्मचारी का तेज जहां साधारण व्यक्ति को जला देता है वहा ब्रह्मचारिणी के तेज के साथ मिल कर वह नये तेजस्वी आत्मा का संसार मे प्रवेश कराता है। ठीक है–प्राण को धारण करने की शक्ति रवि मे ही है, पुरुष के तेज को सहन कर, अपने अन्दर लय करने की शक्ति प्रकृति मे ही है।

मनुष्य ही नहीं, पशुसृष्टि मे भी यही नियम विद्यमान है। वहां भी जीवन तथा वृद्धि के लिये ब्रह्मचर्य ही प्रधान है। मनुष्य की अवस्था मे ब्रह्मचर्य शब्द के पूरे अर्थ लागू हैं। ब्रह्म-नामी वेद और ब्रह्मनामी परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करना,उन की ओर चलना और उन्हें प्राप्त करना–यह मनुष्य मे विशेषता है–'धर्मो हि तेषामधिको विशेषः' । परन्तु पशु में केवल संसार में सब से बड़े, प्राणिमात्र के आधार अन्न (ब्रह्म) का भक्षण ही ब्रह्मचर्य है। बैल और घोड़ा दोनों प्रकार के सांड केवल ब्रह्मचर्य व इन्द्रिय संयम से ही तो अपने चारे को पचाते हैं, और उसे पचाकर गाय और घोड़ी में बलवती तथा दृढ़ांग

सन्तान उत्पन्न करते हैं। इस नियम को मनुष्यों ने ऐसी गिरह दे ली है कि बैल और घोड़े के बछड़ों की विशेष रक्षा कर के उन्हे ब्रह्मचारी रखा जाता है और उनकी पैतृक शुद्धि का विचार किया जाता है। परन्तु मननशील मनुष्य ने अपने सम्बन्ध में इस पवित्र नियम को भुला दिया है। वह जहां पशुओं को ब्रह्मचर्य के नियम के अनुसार रखता है वहां स्वयं उसके गुण जानता हुआ भी अन्धा बन जाता है।

कभी आर्यावर्त्त ही ब्रह्मचर्यप्रधान देश था और वहाँ ही मनुष्य इस समय अधिक अधोगति को प्राप्त है। नालन्दा और तक्षशिला का यहाँ निशान भी मिट चुका था, जिसे विदेशियों ने खोद कर पुनः प्रकट किया है। उस देश में भी पशुओं के लिए ब्रह्मचर्याश्रम (अर्थात् साण्ड के लिए नियमित काम) की प्रथा अब तक चली आती है। पशुओं को तो प्रकृति से स्वाभाविक ज्ञान मिला है। उन में तो 'मादा' ऋतु के बिना 'नर' को समीप भी नहीं आने देती। जंगल में इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। यह भी मनुष्य की ही कृपा है कि जो पशु जङ्गल मे ब्रह्मचारी ऋतुगामी रहते हैं वे आज कल के मनुष्यों के संसर्ग में आकर व्यभिचारी बन जाते हैं। उन्हें आज की मानव सभ्यता ने प्रभावित कर दिया है।

जिन जंगली मनुष्यों को भी आजकल की सभ्यता ने असभ्य की उपाधि प्रदान कर रक्खी है, उन जातियों में जन-

नेन्द्रिय की रक्षा की प्रथा स्त्रियों के अन्दर अब तक विद्यमान है। युरोपियन डाक्टर साक्षी देते हैं कि जिन स्थानों में युरोपियन लोग अब तक अपनी सभ्यता के चिन्ह अर्थात् शराब और 'सिफलिस' लेकर नहीं पहुंचे, वहां अब तक गर्भस्थित होने के २।। वा ३ वर्षों पीछे तक सन्तानवती स्त्री अपनी जननेन्द्रिय की रक्षा करती और पुरुष को अपने समीप नही आने देती।

वेदाज्ञा अपनी सिद्धि के लिए अपने अन्दर ही हेतु रखती है। इस समय भी ईश्वरीय नियम वैसा ही ताजा है जैसा कि सृष्टि के आदि में था। वह कह रहा है कि जो व्यवस्था उस स्वाभाविक, अनादि नियम से मनुष्यों को दूर ले जा रही है वह त्याग के योग्य है। जिस देश वा जाति मे ब्रह्मचर्य व्रत से पालन पोषण पाकर कन्या आदित्य ब्रह्मचारी को प्राप्त होती है उसी जाति व देश का जीवन चिरस्थायी होता है।

शब्दार्थ

(कन्या) विवाह योग्य कन्या (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य पूर्ण होने पर (युवानं पति विन्दते) युवा, ब्रह्मचारी पति का लाभ करती है। पशु सृष्टि में जैसे (अनड्वान् अश्वः) वीर्य-वाही घोड़ा (ब्रह्मचर्येण) इन्द्रिय संयम द्वारा ही (घासं जिघीर्षति) घासादि खाद्य को पचाने में समर्थ होता है।

—

१६

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।
इन्द्रो हि ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ।।
अथर्व, काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५, १६ ।।

मन्त्रसार

'सत्यमेव हि देवा: अनृतं मनुष्या:'–साधारण अवस्था में मनन शक्ति रखने वाले की 'मनुष्य' संज्ञा होती है ; जब वह सत्यमानी, सत्यवादी और सत्यकर्मी हो जाता है, तब उस की 'देव' संज्ञा होती है । मौत को हटा कर ही अमृत की प्राप्ति हो सकती है और यही मनुष्य का परमोद्देश्य है । यद्यपि प्रकाश शरीरधारी जीवात्मा के अन्दर ही विद्यमान है तथापि अन्दर की आंखे बन्द कर रखने के कारण वह उस से लाभ नही उठाता । देवता और राक्षस बनने के साधन अन्दर ही मौजूद हैं । ब्रह्मचर्य से ही देवभाव का पशुभाव पर विजय होता है, तब मनुष्य देवता बन जाता है । मौत को जीत कर, अमर हो कर ही अमृत के भण्डार के अन्दर विचरने की शक्ति मिलती है । 'सत्येन लभ्यते'—वह सत्य से ही प्राप्त होता है और सत्य को धारण करने की शक्ति ब्रह्मचर्य से प्राप्त होती है । 'सत्येन पन्था विततो देवयान:'—सत्य की सड़क पर ही देवताओं के वाहन चल सकते हैं । देवता पद से बढ़कर कोई पद जीवात्मा के लिए नहीं है,तभी तो कवि ने कहा है—'सत्यमूलानि सर्वाणि,

सत्यान्नास्ति परं वरम्'—सत्य से बढ़ कर और क्या है ? और उस सत्यरूपी उच्चावस्था को प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य ही एक मात्र साधन है।

देवों का राजा इन्द्र कहा गया है। प्रजा का पालक राजा होता है। परन्तु पहले कहा जा चुका है कि प्रजापालक बनने के लिए ब्रह्मचर्य मुख्य साधन है। इन्द्र ब्रह्मचर्य के बल से ही देवो के लिए सुख का सामान पैदा करता है।

इन्द्र कौन है और 'देव' कौन है ? यह वेद के विवाह प्रकरण में आया है—'इमा त्वमिन्द्रमीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु' हे ऐश्वर्ययुक्त पुरुष तू इस स्त्री को श्रेष्ठपुत्र और सौभाग्य युक्त कर ! तब इन्द्र जीवात्मा का ही नाम है क्योंकि जिस प्रकार सारे संसार में व्यापक होकर उस का मालिक होने से परमात्मा इन्द्र कहलाता है (यथा 'इन्द्रं मित्रं' इत्यादि वेद में और 'इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्' मनु मे) इसी प्रकार निज शरीर में व्यापक होकर उस का मालिक होने से जीवात्मा भी इन्द्र कहलाता है। इस शरीर में देव कौन है ? ज्ञान का प्रकाश करने से मनुष्यों को देव कहते हैं; मनुष्य की बनावट में ज्ञान का प्रकाश करने से 'पञ्च ज्ञानेन्द्रिय' को देव कहते हैं। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय का एक-एक विषय है—आंख का रूप, कान का शब्द, नासिका का गंध, जिह्वा का रस, और त्वचा का स्पर्श। यदि कोई इन्द्रिय अपने विषय के अन्दर फंस जाय तो

जीवात्मा के लिए हानि कारक होती है, और अंधकार में फंसाने वाली होती है। प्रकाश अन्दर है, क्यों कि परमात्मा का सब से उत्तम मन्दिर वा शरीर (उपनिषद् में कहा भी है—'यस्य आत्मा शरीरम्', बृहदारण्यक) जीवात्मा ही है। तब अन्दर प्रकाश है क्योंकि वहां चेतन जीवात्मा प्रकाशस्वरूप के सामने है, परन्तु बाहर प्रकृति है और अन्धकारमय है। जो इन्द्रिय विषय में फंस जाती है वह मन को बाहर खींच लेती है क्योंकि इन्द्रिय मनपूर्वक ही काम करती है और मन एक समय में एक काम ही करता है। उसका तो लक्षण ही यह है—**'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्'**—जब इन्द्रिय ने मन को बाहर खींचा तो उस ने जीवात्मा को बहिर्मुख कर दिया। बाहर अन्धकार ही अन्धकार है। अन्दर की आंखें बन्द हुईं, और प्रकाश के अन्दर निवास करते हुए भी अन्धेरा ही अन्धेरा छागया। यह अंधेरा कब दूर हो ? अन्दर के पट तब खुलें जब बाहर के पट देय। बाहर के पट कैसे बन्द हों ? जब अन्दर वाला ब्रह्मचर्य का अभ्यास कर के पूर्ण ब्रह्मचारी हो मन वश में करे और उस के द्वारा इन्द्रियों को अपना आज्ञापालक सेवक बना ले। अपूज्य जहाँ पूजे जायं, अचेतन जहां चेतन के पथदर्शक बनें वहां कल्याण कहां रह सकता है ? मालिक जहां दासों के वश में हो वहां मालिक और दास दोनों ही दुःख पाते हैं। दासों का भी कल्याण इसी में है कि उन की बागडोर

मालिक के हाथ में हो। इन्द्रियों का भी कल्याण इसी में है कि वे जीवात्मा के वशीभूत होकर रहें।

यह कैसे हो सकता है? इस का भी एकमात्र साधन ब्रह्मचर्य ही है। जिस जीवात्मा ने साधनों द्वारा अपने आप को पुष्ट कर लिया है उस की इन्द्रियां ही उस के वश मे हो जाती हैं जैसे रथ के घोड़े वीर्यवान् सारथी के वश में होते हैं। ससार में मौत के भय से बढ़ कर और कोई भय नहीं है। यही भय मनुष्य को डांवाडोल करके शोकसागर मे डुबाए रहता है। परन्तु मौत है क्या? जिस से इतना भयभीत जीवात्मा रहता है। मौत वियोग का नाम है। जिस के सयोग का आदि है उसका वियोग भी अवश्य होगा। और पुनः संयोग भी हो सकता है। जब यह ज्ञान हो जाय तो मौत भयावनी नही रहती। परन्तु इस ज्ञान का साधन क्या है? निस्सन्देह इस का साधन ब्रह्मचर्य ही है। जीवात्मा को इन्द्र कब कह सकते हैं? जब वह ऐश्वर्यवान् हो जावे। परन्तु ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य रूपी संयम की आवश्यकता है। परमात्मा का बल ही इस में है कि वह साक्षिरूप अनादि ब्रह्मचारी है। तब उस का पुजारी जीवात्मा भी अपनी इन्द्रियों का सच्चा स्वामी ब्रह्मचर्य के तप से ही हो सकता है और तब तपस्वीरूप के सहवास में वह मौत को जीत लेता है।

शब्दार्थ—

(देवाः) सत्य आदि, दिव्यगुण युक्त ज्ञानी पुरुष (ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य के तपो बल से ही (मृत्युं) मृत्यु को, मौत को (उपाघ्नत) मार डालते हैं, विजय प्राप्त कर लेते हैं। (इन्द्रः) परमेश्वर व जितेन्द्रिय आत्मा भी (ह) निश्चय से (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य की शक्ति के द्वारा ही (देवेभ्यः) देवताओं व इन्द्रियों के लिये (स्वः) सुख और तेज को (आभरत्) धारण कराता है, प्राप्त कराता है।

—

२०

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः ।
सम्वत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥२०॥
अथर्व, काण्ड ११ अ० ३ सूक्त ५, २०॥

मन्त्रसार

वनस्पति अर्थात् वन के वृक्ष जो बिना पुष्प लाए फल देते हैं तथा औषधि जो पुष्प से पूरित हो कर पालन करते हैं–दोनों प्रकार के उद्भिद् प्राणी भी ब्रह्मचारी के तपोबल से ही फल देने वाले होते हैं। इसलिये वेद में जो आर्यों अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों के लिये नैतिक कर्म का उपदेश है उसमें वनस्पति की

रक्षा का भी विधान है। यदि मनुष्य इन्द्रियों को वशीभूत करने वाला न हो तो एक भी वनस्पति अपनी पूर्ण आयु को प्राप्त न हो। माली ब्रह्मचर्यव्रत की सहायता से ही प्रलोभनों से बचता हुआ, वृक्ष और पौधे की रक्षा करता है और पकने से पहले फलों को तोड़ने से बचाता है।

भूत और भविष्यत्-व्यतीत हो गए और आने वाली दोनों-समयों का निर्माता ब्रह्मचारी ही है। बीते हुए अनुभवों से जहां ब्रह्मचारी ही स्वयम् लाभ उठाता तथा संसार को दिला सकता है वहाँ जगत् का भविष्य भी वही सुधार सकता है। जा इन्द्रियों का दास है, उसके लिये वर्तमान ही सब कुछ है। उसका भविष्य कुछ हो हो नही सकता। ब्रह्मचारी राम ने जहां संसार के भविष्य में धर्म की मर्यादा स्थापित कर दी, वहां रावण के कारण लंका का भविष्य ही कुछ न रहा। ब्रह्म-चर्य-बिना न भूत है और न भविष्यत्। दिन और रात का चक्र भी ब्रह्मचर्य के आश्रय पर ही चलता है। व्रत-पालन का आदर्श ब्रह्मचारी ही है। और सूर्य की (अपनी परिधि पर घूमने और अपने सामने आई भूमि को प्रकाश देने की) शक्ति पर ही दिन रात के विभाग निर्भर हैं। ऋतुओं सहित सवत्सर भी उस व्रत का परिणाम है जो संसार चक्र में कार्य कर रहा है। जिनकी इन्द्रिय वश में नहीं है, जिन्हें इन्द्रियां घुमाए फिरती हैं। उनमें दिन और रात में, विवेचन करने की

शक्ति नहीं रहती। वे न रात में विश्राम ले सकते हैं और न दिन में सूर्य की किरणों से प्राणशक्ति को धारण कर सकते हैं। कामी के लिए न कोई दिन है और न रात। उस के लिए सारा समय केवल अन्धकारमय है। कामी उलूक के समान रात को ही सावधान होता है। कामी तुकबन्दों (उन्हें कवि नहीं कह सकते) ने कामातुरों का यही विशेषण दिया है कि वे दिन और रात में तमीज ही नहीं कर सकते। उन्हें ऋतुओं में भी कोई भेद नहीं प्रतीत होता। उन के लिए 'सब धान बाइस पंसेरी' हैं।

लोक में प्रसिद्ध है कि जिन्हें परलोक की लगन हो, जिन्हें मुक्ति की तलाश हो वे भले ही ब्रह्मचर्य का साधन करें, पर दुनियांदारों के लिए ब्रह्मचर्य का उपदेश नहीं है। ऐसी लोकोक्ति के अनुयायियों को इस वेद मन्त्र के भाव पर गहरा विचार करना चाहिये। जिस जुही और चम्पा, चमेली और बेला पर तुम मस्त हो रहे हो, उस की भीनी खुशबू तुम्हारे मस्तिष्क को तरावट न देती, यदि माली ने इन्द्रियों को दमन कर के उस की रक्षा न की होती। यदि माली प्रलोभन में फंस कर बिना खिली कली को ही तोड़ लेता और अपनी स्वार्थ-सिद्धि में ही लग जाता तो तुम्हें खिले हुए फूल की सुगन्धि तथा सौन्दर्य से तृप्ति पाने का अवसर कैसे मिलता। यदि भूत समय में ब्रह्मचारियों ने सदाचार और परोपकार की बुनियाद न डाली होती तो आज तुम्हें अपना तथा अपने भाइयों का भविष्य सुधारने के लिए कौन प्रोत्साहित करता। मनुष्यों की

ही नहीं, वनस्पति की भी जान ब्रह्मचर्य के हाथ में ही है। वनस्पति की ही क्यों ? काल, दिशा और उन के विभागों तथा उपविभागों की जान भी ब्रह्मचर्य ही है। आज ब्रह्मचर्य अस्वाभाविक मालूम होता है। जिन्होंने विश्राम के स्थान में आलस्य को अपना लिया हो, जिन्होंने उल्टी गंगा बहाने का व्यर्थ परिश्रम अपने जीवन का उद्देश्य बना रक्खा हो, जिन्होंने आज जान बूझ कर आंखें बन्द कर रक्खी हों उन्हें आंखें खोलते हुए अवश्य कष्ट प्रतीत होता है। परन्तु इस क्षणिक कष्ट के भय से अपने जीवन के भविष्यत् को ही तिलाजंली दे देना बुद्धिमानों का काम नहीं है। जड़ और चेतन मे, मनुष्य, पशु और वनस्पति में, राजा और रक में, सब मे ब्रह्मचर्य का राज्य है। जिस प्रकार प्रान्त के राजा को और उस के राजनियम को भुला कर उस राज्य में निवास करना कठिन है, इसी प्रकार समय के राजा ब्रह्मचर्य के न्याय शासन को भुला कर संसार में जीना कठिन है। प्रभु बल दें कि ब्रह्मचर्य का यथावत् पालन हो सके।

शब्दार्थ

(ओषधयः) रोगों को नष्ट करने वाले और (वनस्पतिः) भरण पोषण करने वाले अन्नादि वनस्पति, दोनों उद्भिद् प्राणी (भूतं भव्यं) जीवनयात्रा का भूतकाल और भविष्यत्काल अर्थात् सम्पूर्ण जीवन काल (अहोरात्रे) दिन और रात अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का काल (ऋतुभिः सह) षड् ऋतुओं के साथ (संवत्सरः) धारण करने वाला

वर्ष अनादि अर्थात् अनन्त काल, ये सब (ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारी है, (जाताः) ब्रह्मचर्य की शक्ति से ही पैदा हुए हैं इसलिये (ते) वे अविनश्वर हैं, मृत्यु को प्राप्त न होने वाले है।

—

२१

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्याः ग्राम्याश्च ये।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥
अथर्व० काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५, २१।

मन्त्रसार

पार्थिव पदार्थ, जिनका गधवती पृथिवी के साथ ही विशेष सम्बन्ध है जैसे पत्थर, मिट्टी, औषधि, अन्न, जलों के नदी नाले आदि और आकाश में रहने वाले वायु तथा वाष्प इत्यादि सब की उत्पत्ति और स्थिति ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ही है। जो नियम मनुष्यसृष्टि में प्रचलित है उसी का प्रसरण पशु तथा कीट, पतङ्ग और वनस्पति सृष्टि के अन्दर भी है। ब्रह्मचर्य का एक गुण संयम है और संयम के बिना एक तिनका भी अपना काम पूरा नहीं कर सकता। सूर्य की गति संयम का ही परिणाम है, तथा पृथिवी में षड् ऋतु का परिवर्तन भी संयम पर ही निर्भर है। जिस देश के निवासियों मे संयम का अभाव है उस में न भूमि फल देती है और न प्रजा की रक्षा होती है। उपजाऊ भूमियों के निवासी संयम रहित हो कर

भूखों मरते हैं और संयमी पुरुष, ऊसर भूमि को कमा कर, धनधान्य से पूरित हो जाते हैं। जिस भारतवर्ष में अनाज के कोष भरे रहते थे और जिस पवित्र भूमि पर दूध की नदियां बहतीं थी, उसी भारतभूमि में आज बच्चे दूध बिना बिलख-बिलख कर मर रहे हैं और जनता के तीसरे भाग को भर पेट खाने को नहीं मिलता। इस का कारण वही सयम का अभाव और ब्रह्मचर्य का ह्रास है। ब्रह्मचर्य के आदर्श तक पहुंचने के लिए मार्ग का पहिला पड़ाव यम नियमों का पालन है। जो हिंसा से मुक्त नही है, जो असत्य के गढ़े में गिरा हुआ है, जो दूसरों के अधिकारों की आकाक्षा नहीं छोड़ता, जिसने अपनी कर्म और ज्ञान की इन्द्रियों को वश में नहीं किया और जो विषयों का दास है वह ब्रह्मचर्य की ओर पहला पग भी उठाने की शक्ति नही रखता। प्राचीन आर्यों की प्रार्थना नित्य यह होती थी कि पृथिवी लोक, अन्तरिक्ष लोक और द्यु लोक उन के लिए सुखकारी हों। प्राचीन शास्त्रों मे मन, वाणी और कर्म तीनों से प्रार्थना करने का विधान है। इसलिए शान्ति पाठ भी उन का ऐसा ही होता था। मन से उन की इच्छा होती थी कि किसी लोक में जो कुछ भी है वह उन के लिए शान्ति-दायक हो। वाणी से भी वह इसी की विधि का अध्ययन तथा अध्यापन करते थे और कर्म भी वे ऐसे ही करते थे जिस से ससार की सब शक्तियां उन के अनुकूल हों।

पृथिवी लोक अनुकूल हो, शान्तिदायक हो—इस का क्या तात्पर्य है? इस का तात्पर्य है कि भूमि हमारे अनुकूल अनाज,

फल और औषध उत्पन्न करे। इस के लिए आवश्यक है कि वर्षा समयानुकूल हो। जहां ऐसी वर्षा नहीं, वहां परिश्रम से खेती को तालाब और कूप के जल से सींचा जाय। फिर खेत के इर्द गिर्द बाड़ कर के उस की जङ्गली जानवरों से रक्षा की जाय, और बाहर के लुटेरों से राष्ट्र की सेना उस की रक्षा करे। परन्तु इन सब से बढ़कर आवश्यक यह है कि कृषिकार स्वयम् कच्ची खेती को ही खाना शुरु न कर दें। अब तक किसानों में प्रसिद्ध है कि जो किसान प्रलोभनवश बीच में ही खेती खाने लग जाता है उस की खेती में 'बरकत' नहीं होती। ऐसे किसान की उसी पुरुष से उपमा देनी चाहिए जो वीर्य परिपक्व होने से पहिले ही उस का नाश करने लगता है। कोई भी पेशा करने वाला हो, जो 'अमानत में खयानत' करता है, जो अपने कर्त्तव्य पालन में विश्वासघात करता है उस के काम में बरकत नहीं हो सकती। हलवाई का शागिर्द जब आते-जाते, डालते-निकालते, स्वयं मिठाई मुंह में डालने लगता है तो उस की दुकान का दिवाला निकल जाता है। फिर जिस देश का राष्ट्रपति ही रक्षक के स्थान में प्रजा का भक्षक बन जाय उस देश का क्या ठिकाना है। हम पहले कह आए हैं कि शिक्षक और राजा दोनों संयमी और ब्रह्मचारी होने चाहिएं। यदि राजा कर लगाने में कड़ा हो, यदि राजपुरुष प्रजा को लूटना ही अपना अधिकार बनालें, यदि प्रजा राजा के लिए, न कि राजा प्रजा की सेवा के लिए समझी जाय, तब मनुष्य-विप्लव होने में सन्देह क्या है?

जो अवस्था पृथिवी लोक की है वही अन्तरिक्ष और आकाश की है। वहां की सृष्टि का आधार भी ब्रह्मचर्य ही है। अप्रकाशमान् पृथिवी प्रकाशमान् सूर्यादिलोकों से ही प्राण शक्ति को ग्रहण करके अपने गर्भ से मनुष्यों को निहाल कर देती है। यदि सूर्य में संयम न हो तो पृथिवी उस से क्या लाभ उठा सकती है? यदि वही ब्रह्मचर्य का नियम अन्तरिक्ष में काम न करता हो तो सूर्य और इस के गिर्द घूमने वाले ग्रह एक-दूसरे के साथ टकरा कर टुकड़े-टुकड़े हो जांय। अतः अन्तरिक्ष और द्युलोक के नियम जानने के लिए ब्रह्मचर्यपालन की कितनी आवश्यकता है यह सहज ही समझ में आ सकता है! वास्तव में बात यह है कि ज़मीन और आसमान केवल ब्रह्मचर्य नियम के आधार पर ही खड़े (स्थित) हैं।

सारांश—जिस देश में ब्रह्मविद्या के जानने वाले ब्राह्मण शिक्षक हों, वीर्यवान् संयमी क्षत्रिय राष्ट्र के रक्षक हों, जिस में धर्मानुसार प्रजापालन के साधन प्रजा तक पहुंचाने में वैश्य लगे हुए हों और इसलिए जहां शूद्र शुद्ध भाव से सेवा का व्रत धारण किए हों—उस देश में कल्याण और शान्ति का राज्य फैलता है।

शब्दार्थ

(पार्थिवा दिव्याः) पृथिवी और आकाश के पदार्थ, (आरण्याः ग्राम्याश्च ये पशवः) और जो वन और ग्राम के पशु है, (अपक्षाः पक्षिणश्च ये) जो बिना पंख वाले और पंख वाले जीव हैं (ते) वे सब (जाताः ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारी

से प्रसिद्ध होते हैं अर्थात् ब्रह्मचर्य के प्रभाव से उत्पन्न होते हैं। (ब्रह्मचर्य प्रभावाद् उत्पन्ना इत्यर्थः–सायण)

—

२२

पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति।
तान् सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ॥

अथर्व० काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५, २२।

मन्त्रसार

एक मनुष्य की प्रकृति दूसरे से मिलती नहीं है। सब अपने जुदे-जुदे संस्कार साथ लेकर उत्पन्न होते हैं। सब के एक सी ही शक्तियां नहीं और न एक से उद्देश्य हैं। उन के कर्मानुसार उन की रुचियां पृथक्-पृथक् हैं। सब एक ही रस्सी में बांधे नहीं जा सकते। कवि ने ठीक कहा है—'भिन्नरुचिर्हि लोकः।' कह सकते हैं कि जितने मनुष्य हैं उतनी ही उन की लगन हैं। इन विविध रुचियों का प्रादुर्भाव कैसे होता है? यदि शिक्षक इन सब को गडरिये की तरह हांकने वाला हो तो उन के अन्दर कोई शक्ति ही दिखाई नहीं देती। वे भेड़ों के गल्ले की नाई चल देते हैं और जब शिक्षक रूपी गडरिया एक पल के लिए भी उन से ओझल होता है तो उन के लिए सीधे रास्ते चलना कठिन हो जाता है।

जीवात्मा मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म करने में

स्वतन्त्र है। केवल उन कर्मों का फल भोगने में वह परतन्त्र है। इस स्वतन्त्र कर्त्ता के अन्दर स्वतन्त्र ही प्राण शक्ति है। यदि उसे दबा दिया जाय तो 'जीवित शव समान वह प्राणी' की लोकोक्ति उस पर घट जाती है। वह स्वाभाविक के तुल्य हुई शक्तियां किस प्रकार लाभदायक हो सकें ? इसके लिए आवश्यक यह है कि आचार्य अपने शिष्यों में वेद-ज्ञान के भरने का यत्न करे। उनको अपनी मानसिक शक्तियों का दास बनाने की चेष्टा न करे। फिर किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती। आचार्य का स्वाभाविक रीति से ब्रह्मचारी में भरा वेद ज्ञान स्वयम् उन के विकास का साधन बनता है।

बालक के अन्दर उसकी प्रकृति के अनुसार ही विचित्र प्रश्न उत्पन्न होते हैं। मूर्ख अध्यापक उनको दबाने की चेष्टा करता है। प्रत्येक अध्यापक अपना गौरव स्थिर रखने के लिए आवश्यक समझता है कि वह अपने आप को अपने शिष्यों के सामने सर्वज्ञ सिद्ध करे। वह भूल जाता है कि शायद उसके सपुर्द ऐसा बालक किया गया है जो पूर्व जन्म में उस से कहीं अधिक उन्नति कर चुका है। यदि शिष्य की बुद्धि गुरु की अपेक्षा तीव्र है तो ऐसे बर्ताव से उस को बड़ा गहरा धक्का लगता है। यह भूल नहीं जाना चाहिए कि आचार्य का काम केवल शिक्षा देना ही नहीं, शिक्षा ग्रहण करना भी उसका कर्त्तव्य ही नहीं अधिकार है। अपने बीस वर्षों के आनुपूर्वी अनुभव से मैं कह सकता हूं कि जिन शिक्षकों ने जीवात्मधारी बालकों को केवल जड़ पत्थर समझ कर उनको रेवड़ की तरह

हाँकने का यत्न किया उन्होंने न केवल अपने आधीन विद्यार्थियों की उन्नति ही रोक दी प्रत्युत अपने आपको भी अवनत किया। परन्तु जिन्होंने इन आत्म सम्पन्न प्राणधारियों को केवल मार्ग दिखाना ही अपना कर्त्तव्य समझा उन्होंने न केवल अपने शिष्यों के आत्मा को विचित्र प्रकार से विकसित ही किया प्रत्युत अपनी दैवी शक्तियों को भी प्रादुर्भूत किया। इसका विशेष कारण भी है। जो वाणी पर ही सारा निर्भर न कर के कर्म का आश्रय लेते हैं उन्हें अपने शिष्यों का मार्ग दर्शक बनने के लिए उन गुणों का अनुकरण स्वयम् करना पड़ता है जिन्हें वे विद्यार्थियों के मनों में भरना चाहते हैं।

वेद-ज्ञान ब्रह्मचारी के अन्दर क्यों भरना चाहिए ? इस लिए कि वैदिक शिक्षाओं में से वह अपनी प्रकृति के अनुसार स्वयं मार्ग चुन लेवे। गुरु का परिमित, एकदेशी ज्ञान शायद ही एक दो शिष्यों के लिए उपयोगी हो। वेद ज्ञान मे इतनी लचक है कि उसे प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकता के अनुसार उपयोगी बना सकता है। गुरु परम्परा से जिस ज्ञान को ग्रहण करते आए हे उस में जो बल है वह एक व्यक्ति के कृत्रिम रीति से उपार्जन किए ज्ञान मे नही हो सकता। इस लिए वेद द्वारा भगवान का आदेश है कि जिस मनुष्य जाति के अन्दर ज्ञान प्राप्त करने का विशेष कारण (बुद्धि) विद्यमान है उस की भलाई इसी में है कि उस कारण को स्वाभाविक रीति से पुष्ट तथा विकसित करने के लिए उसे हिला दिया जाये, उसे बलात्कार से खींच कर किसी एक ओर लगाने का यत्न न किया

जाय। जब तक संसार में ब्रह्मचर्य के मूल साधनों को फैलाने का यत्न न होगा तब तक बढ़ा हुआ राग द्वेष उस संसार को, जिसे उस के निर्माता ने उन्नति का धाम बनाया था, नरक कुण्ड ही बनाता रहेगा।

शब्दार्थ

(सर्वे प्राजापत्याः) प्रजापति[१] आचार्य के सब शिष्य (पृथक्) भिन्न-भिन्न रुचि वाले होकर (आत्मसु प्राणान् विभ्रति) अपने शरीर में प्राणों को धारण करते हैं। (तान् सर्वान्) उन सब शिष्यों को (ब्रह्मचारिणि) ब्रह्मचारी[२] आचार्य में (आभृतम्) रक्खा हुआ (ब्रह्म) ज्ञान (रक्षति) रक्षा करता है। ——

२३

देवानामेतत् परिषूतमनभ्यारूढं,
चरति रोचमानम्।
तस्माज्जातम् ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं,
देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्। २३
अथर्व, काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५, २३॥

मन्त्र सार

इस से पहले मन्त्र में वेद-ज्ञान ब्रह्मचारी के अन्दर भर देना ही आचार्य का कर्त्तव्य बतलाया है। यह क्यों ? इस का

१. २. ब्रह्मचर्य सूक्त का १६ वां मंत्र देखो।

हेतु इस मन्त्र में बतलाते हैं। कल्पना करो कि एक बड़ा भारी यन्त्र है जिस में बहुत सी कलें चल रही हैं, सैकड़ों पहिए चक्कर काट रहे हैं और बीसियों प्रकार की लाभकारी वस्तुएं तय्यार हो रही हैं। यदि किसी साधारण मनुष्य को उस कला-घर में अपना काल-यापन करना है तो क्या यह आवश्यक नहीं है कि कलाघर में प्रवेश करने से पहले वह उस यन्त्र के एक एक पुर्जे से परिचित हो जाय ! इस काम के लिए कौन उत्तम शिक्षक हो सकता है ? यदि कलाघर के निर्माता एञ्जिनियर की निर्मित तद्विषयक पुस्तक का पाठ कराने वाला योग्य शिक्षक मिल जावे और एक-एक वर्णन को कलाघर पर घटाता चला जाय, तभी कलाघर का पथगामी कलाघर से लाभ उठा सकता है, अन्यथा वह पहियों के चक्कर में फ़स कर जान दे बैठने के अतिरिक्त और क्या कर सकता है ?

यह ससार मनुष्य के लिए सब से बड़ा असीम कलाघर है। इस के अन्दर, मानवी कलाघरों की तरह, केवल निर्जीव जड़ सृष्टि ही नहीं, प्रत्युत चेतन सृष्टि भी भ्रमण कर रही है। इस विचित्र कलाघर की दिव्य सृष्टि सम्पूर्ण अनादि निर्माता ने ही निर्माण की है। आठों वसु जिन के अन्दर सारी सृष्टि निवास करती है, ग्यारह रुद्र जिन के मिले रहने से स्थिति और जिन के बिछुड़ जाने से मौत और रोना होता है, संवत्सर के बारहों आदित्य, विद्युत और यज्ञ यह सब उसी प्रकाशस्वरूप से प्रकाशित होते हैं। वह इन सब का प्रकाशक है। और फिर इन देवों में अमरपन भी उसी ने डाला है। ये सब प्रकाशक

देव जहां अपना प्रकाश उसी स्व-प्रकाशस्वरूप से प्राप्त करते हैं, वहां इन्हें प्रवाह से अनादि भी इसी ने बना छोड़ा है। प्रलय के पश्चात् जब-जब सृष्टि होती है तब-तब ही ये शक्तियां अपना काम करती हैं—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् दिवं च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः।'

विधाता ने सूर्य चन्द्र, अन्य प्रकाशमान लोकान्तर तथा पृथिवी, अन्तरिक्षादि पूर्व कल्प की तरह ही निर्माण किए हैं। इन सब का रचयिता, इस कलाघर का निर्माता स्वयम् कैसा है? जगत् के सब प्रकाशमान लोक उस के वश में हैं। सांसारिक एन्जिनियर तो कलाघर निर्माण कर के अलग हो सकता है, परन्तु यह एन्जिनियर अपने निर्माण किए कलाघर मे व्यापक है, इसलिए यह कलाघर कभी बन्द नहीं होता। कलाघर के निर्माता मनुष्य को पकड़ कर अलग कर दें तो उस के कलाघर की समाप्ति हो जाती है, परन्तु यह संसार रूप माया का स्वामी ऐसा मायावी है कि इसे कोई पराजित नहीं कर सकता। यह प्रकाश स्वरूप सब के उपर विचरता है। यह जहां सूक्ष्म से सूक्ष्म इतना है कि सूक्ष्मतर पदार्थो के अन्दर भी विद्यमान है वहां इतना बड़ा भी है कि सब पदार्थों को घेरे हुए है। इसकी लपेट से बाहर कोई नहीं है।

जो ऐसा ब्रह्म सब से बड़ा और सबका स्वामी है, जिस से संसार रूपी यह विचित्र 'कलाभवन' न केवल निर्माण ही किया गया है प्रत्युत जिसके आश्रय पर ही यह स्थित है। तज्ज×तत्-अन–उसी से सब सृष्टि होती, उसी पर स्थित रहती और उसी

मे लय होती है। वह सब को प्रकाश देता हुआ और सब का आधार होता हुआ भी स्वयम् किसी आधार की अपेक्षा नहीं रखता। उसी ने इस सारे ब्रह्माण्ड को रच कर उसका ज्ञान मनुष्य को दिलाने के लिए वेद का प्रादुर्भाव किया है। जिसने आँख पीछे दी, पहले उसे दिखलाने के लिए सूर्य का निर्माण किया, उसी ब्रह्म ने मनुष्य की बुद्धि को प्रदीप्त करने के लिए सत्यज्ञान का संसार मे प्रसार किया है।

निस्सन्देह सीधे मार्ग पर चलाने के लिए योग्य ब्रह्मचारी को सांसारिक आचार्य की आवश्यकता है, परन्तु यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए ज्ञान के प्रसारक परमात्मा और जिज्ञासु के बीच में कोई तीसरा पर्दा नही आना चाहिए। वहां आत्मा की ही पहुंच है, इसलिए धन्य है वे नररत्न जो सत्य विद्या की प्राप्ति का मार्ग सांसारिक आचार्य से जान कर सीधे ज्ञानेश्वर की शरण में जाते है क्योंकि उसी में जीवन ढूंढने से महत्त्व की प्राप्ति होती है।

शब्दार्थ

(देवानाम्) सब दिव्य शक्तियों का वा इन्द्रियों का (परिषूतम्) सम्पूर्ण रूप से निचोड़ा हुआ सार (एतत्) यही ब्रह्मचर्यरूप होकर (रोचमानम्) सब सूर्यादि नक्षत्रों में चमकती हुई शक्ति है, जो (अनभ्यारूढं) किसी से न दबने वाली (चरति) सर्वत्र गमन करती है। (ब्राह्मणम्) ब्रह्म सम्बन्धी (ज्येष्ठम्) सर्वोत्कृष्ट (ब्रह्म) ज्ञान वेद (तस्मात्) उसी शक्ति से (जातम्) उत्पन्न हुआ है। और (अमृतेन साकम्) अमरता

के साथ (सर्वे देवाः) सब दिव्य शक्तियां अथवा इन्द्रियां भी उसी से पैदा हुई हैं।

—

२४

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति,
तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं,
वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम्। २४
अथर्व, काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५, २४॥

मन्त्र सार

ब्रह्म में जिस की गति हो उसी को ब्रह्मचारी कहते हैं। ब्रह्म तेजस्वरूप है; जो स्वयम् तेजस्वी न हो उसकी तेजस्वरूप में गति कैसी हो सकती है। वेद में इसलिए आदेश है कि तेज-स्वरूप परमात्मा से तेज की याचना पहले करो–'तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।' जब तक ब्रह्मचारी के ज्ञानचक्षु खुल नहीं जाते तब तक वह ज्ञानस्वरूप का न ज्ञान प्राप्त करता है, न उसकी ओर गमन करता है और न ही उसको प्राप्त होता है। परन्तु जब वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है तब उस ब्रह्म के निमित सब देव (वसु–रुद्र–आदित्य–विद्युत्–यज्ञ) उस ब्रह्मचारी में ओत-प्रोत हो जाते हैं–अर्थात् ब्रह्मचारी उनके यथार्थ स्वरूप को

समझने लगता है। इस में से एक-एक के तत्त्व को वह खोल कर रख देता है और उस ज्ञान की सहायता से वह अपने तथा अन्य मनुष्यों के जीवन के लिए प्रकाश प्राप्त करता है। लोग ब्रह्मचारी को उस के गुणों से जानते हैं और तब उसके पीछे चलते हैं।

प्राण, अपान और व्यान-प्राणों की गति का ज्ञान सबसे पहले होता है। वह प्राणों को वश में करना सीखता है। प्राणों द्वारा अन्दर के विकारों को बाहर कैसे फेंकना, बाहर की शुद्ध प्राण वायु को कैसे भीतर ले जाना, सारे अन्तःस्थ वायु की समान गति को कैसे स्थिर रखना, इस सारी क्रिया पर ब्रह्मचारी ही प्रकाश डाल सकता है। ससार की सारी गति प्राणों की गति पर ही निर्भर है। एक जापानी वीर शारीरिक व्यायाम आरम्भ करने से पहले क्यों दीर्घश्वास तथा प्रश्वास का अभ्यास करता है ? इसलिए कि प्राणों की गति ठीक होने से ही व्यायाम द्वारा शरीर कमाया जा सकेगा। एक बोझ उठाने वाला पहलवान चार मन की मूगरी पर हाथ डालने से पहले प्राणों को क्यों वश में करता है ? इसलिए कि वह जानता है, कि मूगरी को उठाकर स्थित रखने के लिए प्राणों की साधना आवश्यक है। जिन वक्ताओं ने प्राणों को वश में करना नहीं सीखा वे बार-बार पानी पीते हैं तथा गला और स्वास्थ्य सब कुछ व्याख्यान पर न्यौछावर कर देते हैं। एक प्रबन्धकर्त्ता आई हुई विपत्तियों का सामना नहीं कर सकता यदि प्राण उस के वश में न हों। इसके साथ ही आत्मा को परमात्मा में जोड़ने

का साहस भी प्राणों को वश में करके ही हो सकता है। इसलिए उपनिषत्कार ऋषि ने कहा है —

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् ।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि नः ॥

तीनों लोकों में जो कुछ अवस्थित है वह सब प्राण के वश में ही है। हे प्राण ! जैसे माता पुत्रों की रक्षा करती है वैसे तुम हमारी रक्षा करो, हमारे लिए शोभा और ज्ञान की वृद्धि करो।

जब प्राण वश मे हुए तभी वाणी वश मे होती है। इसलोक तथा परलोक दोनों की सिद्धि के लिए वाणी का वश में होना बड़ा भारी साधन है। यजुर्वेद मे वाणी की महिमा इस प्रकार बतलायी गई–'सा विश्वायुः, सा विश्वधाया, सा विश्वकर्मा।' वाणी ने जहा मनुष्य को चक्रवर्ती राज्य दिलाया है वहाँ वाणी के दुरुपयोग ने बादशाहतों के तख़ते भी पलट दिए है। उस वाणी को ब्रह्मचारी ही कल्याणकारिणी बना सकता है। जिसने वाणी के दुरुपयोग से शत्रुओं की संख्या बढ़ा ली हो वह शान्त चित्त हो कर नहीं बैठ सकता। मन को संसार का विजेता बतलाया है।

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत ।
परमातम को पाइए, मन ही की परतीत ॥

ऐसे बली मन को क्रमशः साधनों द्वारा ब्रह्मचारी ही काबू कर सकता है। तब हृदय की विशालता का प्रादुर्भाव होता है।· संकुचित हृदय संसार यात्रा में पग-पग पर ठोकरें खाता है और जो चंचल मन ऐसे व्यक्ति को विविध नाच नचाता है

वह हृदय को महान् कैसे बनायेगा ? 'ओ३म् महः पुनातु हृदये'—हे परमेश्वर ! अपनी महानता से हमारे हृदयों को पवित्र करो, यह नित्य की प्रार्थना कैसी महत्वपूर्ण है। जब तक हृदय उदार नहीं तब तक उस महान् परमेश्वर की महिमा को समझना कैसे हो सकेगा ? उस के विस्तृत जगत् का मर्म बतलाने वाले वेद अपने भेद को उस के लिए कैसे प्रकट कर सकेंगे ?

बाल-ब्रह्मचारी वेद के भेद को खोल कर सर्वसाधारण के सामने रख सकते हैं। वह वेद नहीं जो लेखनी और मसीपात्रों में बन्धा हुआ है प्रत्युत वह वेद जो देश और काल की सीमा से परे है। व्याकुल संसार ने जब-जब ब्रह्मचारी के दर्शनार्थ हृदय से प्रार्थना की तब-तब बाल-ब्रह्मचारी ने दर्शन दिए। अब फिर प्रजा व्याकुल होकर बाल-ब्रह्मचारी की बाट जोह रही है। दयामय प्रभो ! यदि आप के प्रकाश से तेज धारण करने में कोई ब्रह्मचारी मग्न है तो उसे शीघ्र तेज प्रदान करो, ताकि वह संसार से सन्देह और अविद्या के बादलों को छिन्न-भिन्न कर के उड़ा दे।

शब्दार्थ

(ब्रह्मचारी) तेजस्वरूप परमात्मा में विचरने वाला ब्रह्मचारी (भ्राजत्) उस के तेज से स्वयं चमकता हुआ (ब्रह्म) परमात्मा को (बिभर्ति) धारण करता है। तदनन्तर (तस्मिन्) उस तेजस्वी ब्रह्मचारी में (विश्वे देवाः) सब वसु आदि देव (समोताः) पूर्ण रूप से ओत प्रोत हो

जाते है, तद्वत् हो जाते है। तभी वह संयमी (प्राणापानौ) प्राण, और अपान को (व्यानम्) व्यान को (वाचम्) मधुमती वाणी को (मनः) शान्त मन को (हृदयम्) हृदय की विशालता को (ब्रह्म) वेदज्ञान को (म्रात्) और (मेघाम्) उस के योग्य विकसित बुद्धि को (जनयन्) उत्पन्न करता है, युक्त होता है।

—

२५ : २६

चक्षु श्रोत्रं यशो धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ॥२५॥
तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे
तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे ।
स स्नातो बभ्रुः पिंगलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥२६॥

अथर्व० काण्ड ११, अ० ३, सूक्त ५, २५. २६ ।

मन्त्रसार

'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'— वह पूर्वजों का भी आचार्य, गुरुओं का भी गुरु हम सब को क्रमशः ब्रह्मचर्य की अन्तिम सीढ़ी पर ले जाता है। हम ने सब से पहले आंख को दृढ करना है, फिर श्रोत्र और उस के साथ अन्य सब इन्द्रियों को। नित्य सन्ध्या में इसी लिए ऋषियों ने सर्व शुद्धि की प्रार्थना बतलाई है। वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, नाभि, हृदय,

कण्ठ, शिर, बाहु और हाथों को सावधान कर के और उन को वश में रखने की प्रतिज्ञा कर के प्रार्थी इन सब की पवित्रता के लिए याचना करता है। यही सन्ध्या का मार्जन मन्त्र है। इस में शुद्धि का ठीक प्रकार बतलाया है–'भूः पुनातु शिरसि'– प्राणेश्वर परमात्मा शिर को पवित्र करे, प्राणों की गति का साधन शिर ही है। 'भुवः पुनातु नेत्रयोः'—दुखों से अलग रखने वाला परमेश्वर आंखों को पवित्र करे, दुःखों का आरम्भ ही आंखों के बिगड़ने पर होता है। आंखे बिगड़ने न पाए। 'स्वः पुनातु कण्ठे'—सारे सुख का स्थान कण्ठ है। उस की पवित्रता के लिए सुखस्वरूप परमात्मा से प्रार्थना है। 'महः पुनातु हृदये'—प्रभु अपनी महानता से हृदय को पवि (विशाल) करे। 'जनः पुनातु नाभ्याम्'—अपनी जनन शक्ति से परमेश्वर स्त्री और पुरुष दोनों की जननेन्द्रियों को पवित्र करे, जिस से वे उन्हें स्वादेन्द्रिय न बनावें। 'तपः पुनातु पादयोः'—तप शक्ति हमारे पैरों में आवे। 'सत्य पुनातु पुनः शिरसि'—सत्यरूप परमात्मा फिर से शिर को पवित्र करे। जिस से मस्तिष्क में ठीक सोचने की शक्ति आवे, और 'खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र'— चारों ओर, ऊपर नीचे व्यापक परमात्मा शुद्ध करे। रक्षा करे। ऊपर के २५ वें मन्त्र में सिलसिला और है। आंख और कान में सब इन्द्रियां आ गईं। जब वे पवित्र हों तब अपयश नहीं होता, प्रत्यक्ष पाप न होने से यश बढ़ता है। यश से अन्न प्राप्त होता है। शुद्ध अन्न यशस्वी को ही मिलता है। पवित्र अन्न का उपभोग करने वाले का वीर्य शुद्ध होता है। वीर्य

का अन्न पर ही आधार है। वीर्य ठीक होने से रुधिर की गति ठीक रहती है। वीर्यहीन पुरुष का रुधिर नियम मे नही रहता। रक्त की शुद्धि का साधन प्राण वायु है और उस मे वीर्य की अरक्षा से विकार आ जाता है। इन सब शुद्धियों पर उदर की शुद्धि निर्भर है और उदर की शुद्धि के बिना मनुष्य की सारी बनावट अशुद्ध हो जाती है।

यह सारा शुद्धि का क्रम ब्रह्मचर्य के यथावत् पालन पर ही निर्भर है। ब्रह्मचारी इन सब मजिलों से पार होकर समुद्र के समान गम्भीर हो जाता है। और इतना तेज धारण करता है कि सर्वसाधारण से ऊचा उठ जाता है। जिस प्रकार पर्वत पर चढ़ कर महात्मा पुरुष मर्त्यलोक के निवासियों के मार्ग-दर्शक बनते हैं, इसी प्रकार ब्रह्मचारी अपने तपोबल से तेजस्वी होकर ऊपर उठता है। तब विद्यारूपी समुद्र में स्नान से तेज धारण किया हुआ ब्रह्मचारी अपने प्रकाश से सर्वसाधारण को अपनी ओर खीचता हुआ उन की शुद्धि का साधन बनता है।

इस ब्रह्मचर्य का जब भारत में प्रचार था उसी समय यह देश सारे संसार का शिरोमणि था और सारे संसार के लोग अपनी आचार शुद्धि के लिए इसी 'देव निर्मित' देश की शरण में आया करते थे। अब भी यदि संसार की गिरी हुई दशा का सुधार होगा तो ब्रह्मचर्य के ही पुनरुद्धार से।

शब्दार्थ

हे तेजस्वी ब्रह्मचारी! तुम हमें (चक्षुः श्रोत्रम्) दृग् शक्ति और श्रवण शक्ति से युक्त आंख और कान तथा अन्य

सब शक्तिशाली इन्द्रियों को (यशः) निष्कलंक यश को (अन्नम्) पवित्र अन्न को (रेतः) कामवासनाशून्य वीर्य को (लोहितम्) शक्तिमय लाल खून को और (उदरम्) रोग रहित तथा शरीर वर्धक पेट को (धेहि) धारण कराओ ।२५।

सब मनुष्यों के लिए (तानि) चक्षु आदि इन्द्रियों को और यश आदि पदार्थों को (कल्पत्) सामर्थ्य युक्त बनाता हुआ (ब्रह्मचारी) जितेन्द्रिय और यशस्वी ब्रह्मचारी ही (सलिलस्य पृष्ठे) गम्भीर ज्ञान समुद्र के तल पर (तपोऽतिष्ठत्) तप करता हुआ ठहरता है। इस प्रकार (समुद्रे) ज्ञान समुद्र मे (तप्यमानः) तपाया जाता हुआ (स) वह ब्रह्मचारी ही (स्नातः) असली स्नातक होकर, ज्ञान वारिधि में नहाया हुआ होकर, (बभ्रुः) चक्षु आदि इन्द्रियों का और यश आदि पदार्थों का धारण करता हुआ (पिंगलः) अत्यन्त तेजस्वी होता हुआ (पृथिव्यां) इस पृथिवी पर (बहु रोचते) नाना प्रकार से सुशोभित होता है। २६।

—

स्वाध्याय के लिए चुनी हुई पुस्तकें

वैदिक साहित्य

अध्यात्म रोगों की चिकित्सा, श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति

ईशोपनिषद्भाष्य	,,	२.००
मेरे पिता	,,	४.००
वेद का राष्ट्रीय गीत	श्री प्रियव्रत	५.००
मेरा धर्म	,,	६.००
वेदोद्यान के चुने हुए फूल	,,	५.००
वरुण की नौका, दो भाग	,,	६.००
वैदिक विनय, तीन भाग,	श्री अभय	२.००, २.००, २.००
वैदिक ब्रह्मचर्य गीत	,,	२ ००
ब्राह्मण की गौ	,,	.७५
आत्म-समर्पण	श्री भगवद्दत्त	१.५०
वेदगीताञ्जलि (वैदिक गीतियाँ)	श्री वेदव्रत	२.००
सोम-सरोवर, सजिल्द, अजिल्द	श्री चूमपति २ ००,	१.५०
वैदिक-कर्तव्य-शास्त्र	श्री धर्मदेव	१.००
अग्नि होत्र	श्री देवराज	२.२५

संस्कृत ग्रन्थ

सस्कृत-प्रवेशिका, प्रथम भाग (पन्द्रहवां संस्करण) सचित्र	.८७
सस्कृत-प्रवेशिका, द्वितीय भाग (छटा संस्करण) सचित्र	.८७
साहित्य-सुधा-सग्रह, (तीन भाग)	१.२५, १.२५, १.२५
पाणिनीयाष्टकम् पूर्वार्द्ध, उत्तरार्द्ध	७ ००, ७.००

सरल शब्दरूपावली	.६२
संस्कृत ट्रान्सलेशन ऐण्ड कम्पोज़ीशन	१ १५
अन्योक्ति शतकम् .२५ आर्य सूक्ति सुधा	.७५
संस्कृत साहित्य पाठावली .१६ जिन चरितम्	.२५
संक्षिप्त मनुस्मृति .५० साहित्य दर्पण	२.००
रघुवंश, संशोधित (तीन सर्ग) .२५ नीतिशतक संशोधित	.१६
काव्यलतिका १ २५ बालनीति कथामाला	१.००
भारतवर्ष का इतिहास, ३भाग, श्री रामदेव	२.००,२.५०,४.५०
बृहत्तर भारत, सजिल्द, अजिल्द श्री चन्द्रगुप्त	७.००, ६.००
ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार, दो भाग श्री स्वामी श्रद्धानन्द	.७२
अपने देश की कथा (छटा संस्करण) श्री सत्यकेतु	१.३७
हैदराबाद आर्य सत्याग्रह के अनुभव श्री क्षितीश	.५०
योगेश्वर कृष्ण (दूसरा संस्करण) श्री चमूपति	४.००
सम्राट् रघु श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति	१.२५
जीवन की झाँकिया (तीन भाग) ,,	.५०, .५०, १.००
जवाहरलाल नेहरू ,,	१.२५
महर्षि दयानन्द का जीवन-चरित्र ,,	२ ००
दिल्ली के वे स्मरणीय २० दिन ,,	.५०

स्वास्थ्य सम्बन्धी पुस्तकें

आहार (भोजन की पूर्ण जानकारी हेतु) श्री रामरक्ष	५.००
आसव-अरिष्ट श्री सत्यदेव	२.५०

लहसुन : प्याज (३ रा परिवर्द्धित संस्करण)	श्री रामेश बेदी	२.५०
शहद (शहद के बारे में पूरी जानकारी)	,,	३.००
तुलसी (दूसरा परिवर्द्धित सस्करण)	,,	२.००
सोंठ (तीसरा परिवर्द्धित सस्करण)	,,	१.५०
देहाती इलाज (तीसरा परिवर्द्धित संस्करण)	,,	१ ००
मिर्च (काली, सफेद, लाल) २ रा संस्करण	,,	१.००
सांपों की दुनिया, सचित्र, सजिल्द	,,	५.००
त्रिफला (तीसरा सवर्द्धित संस्करण)	,,	३.२५
नीम : बकायन (अनेक रोगों में उपयोग)	,,	१.७५
पेठा : कद्दू (गुण तथा विस्तृत उपयोग)	,,	.५०
अशोक	,,	१.००
देहात की दवाएं (सरकार द्वारा पुरस्कृत) सचित्र	,,	.७५
स्तूप निर्माण कला, सचित्र, सजिल्द	श्री नारायण राव	३.००
प्रमेह, श्वास, अर्शरोग	,,	१.२५
जल-चिकित्सा	श्री देवराज	१.७५
सन्ध्या-सुमन	श्री नित्यानन्द	१.५०
स्वामी श्रद्धानन्द जी के उपदेश तीन भाग	,,	३.७५
आत्म-मीमांसा	श्री नन्दलाल	२.००
वैदिक पशुयज्ञ-मीमांसा	श्री विश्वनाथ	१.००
सन्ध्या-रहस्य	,,	२.००
अथर्ववेदीय मन्त्र-विद्या	श्री प्रियरत्न	१.५०

जीवन-संग्राम	श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति	१.००

विविध पुस्तकें

विज्ञान प्रवेशिका (बालकों के लिए)	श्री यज्ञदत्त	१ ००
भाषा-प्रवेशिका (वर्षायोजनानुसार)	श्री ओम्प्रकाश	.७५
आर्यभाषा पाठावली (८ वां संस्करण)	श्री भवानी प्रसाद	१.५०
स्वतन्त्र भारत की रूप रेखा,	श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति	१.५०
आत्म बलिदान	,,	३.००
जमींदार	,,	२.००
सरला की भाभी, पहला भाग	,,	२.००
सरला की भाभी, दूसरा भाग	,,	३.५०

गुरुकुल सम्बन्धी पुस्तकें

गुरुकुल कांगड़ी का पचास वर्ष का इतिहास	.७५
पाठविधि–गुरुकुल के वेद तथा साधारण महाविद्यालय की	.६२
पाठविधि–गुरुकुल की नवम तथा दशम श्रेणी की	.५०
पाठविधि–प्रथम से अष्टम तक	.२५
गुरुकुल पत्रिका (मासिक) वार्षिक मूल्य देश में	४.००
विदेश में	६.००
गुरुकुल पत्रिका की प्रत्येक वर्ष की फाइल, सजिल्द	५.००
अजिल्द	४.००